वर्ष ४२ अंक ५
मई २००४
मूल्य रु. ६.००

विवेक-ज्योति

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर (छ.ग.)

मंगल कामना

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुखःभाग्भवेत् ॥
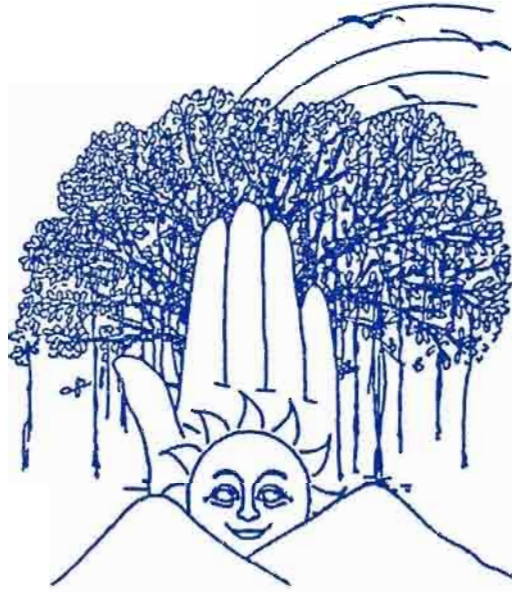
सब सुखी हों।

सब रोगरहित हों।

सब कल्याण का साक्षात्कार करें।

दुःख का अंश किसी को भी प्राप्त न हो।

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

मई २००४

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४२
अंक ५

वार्षिक ५०/- एक प्रति ६/-

५ वर्षों के लिए — रु. २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) — रु. १,०००/-

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर (हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष: २२२५२६९, ५०३६९५९, २२२४११९

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

श्रीरामकृष्ण के दृष्टान्त – १९

रेखांकन – स्वामी आप्तानन्द

श्रीरामकृष्ण द्वारा प्राय: गाये जानेवाले एक बँगला भजन का भावार्थ –

"कौन जानता है कि माँ-काली कैसी है? षड्दर्शनों ने भी उसका दर्शन नहीं पाया । मूलाधार और सहस्रार में योगी लोग सदा उसका ध्यान करते हैं । वह (माँ-काली) पद्मवन में हंस के साथ हंसी-जैसे रमण करती है । वह आत्माराम की आत्मा है, प्रणव का प्रमाण है । वह इच्छामयी अपनी इच्छा के अनुसार घट घट में विराजमान है । यह विराट् ब्रह्माण्डरूपी भाण्ड, माँ काली के जिस उदर में समाया हुआ है, सोचो कि वह कितना बड़ा हो सकता है ! माँ-काली का माहात्म्य जैसा महाकाल शिव जानते हैं, वैसा और कोई नहीं समझ सकता । कवि 'रामप्रसाद' कहते हैं कि माँ-काली को समझने के प्रयास रूपी अपार सागर को मानो तैरकर पार करने के मेरे प्रयास को देखकर लोग हँसते हैं । मेरे मन ने तो इस बात को समझ लिया है, तथापि मेरा हृदय इसे नहीं समझता, वह तो मानो बौना होकर भी हाथ बढ़ाकर चन्द्रमा को पकड़ने का प्रयास करता रहता है ।"

वैराग्य-शतकम्

चूडोत्तंसित-चन्द्र-चारु-कलिका-चञ्चच्छिखा-भास्वरो
लीला-दग्ध-विलोल-काम-शलभः श्रेयो-दशाग्रे स्फुरन् ।
अन्तःस्फूर्जद-पार-मोह-तिमिर-प्राग्-भारमुच्चाटयन्
चेतःसद्मनि योगिनां विजयते ज्ञान-प्रदीपो हरः ।।१।।

अर्थ – जटाओं में आभूषण के रूप में स्थित सुन्दर चन्द्रकला की प्रकाशमान किरणों से उद्भासित, जिन्होंने लीला मात्र से चंचल कामदेव-रूपी पतंग को दग्ध किया है, जो समस्त मंगलमय अवस्था के आरम्भ में प्रकट होते हैं, जीव के चित्त में फैले हुए अपार अज्ञान-अन्धकार के समूह को समूल नाश करते हुए, साधकों के चित्त को ज्ञानरूपी दीपक अर्थात् विमल ज्ञान से आलोकित करनेवाले महादेव शिव योगियों के हृदि-मन्दिर में सदा विराजित हैं ।

भ्रान्तं देशमनेक-दुर्ग-विषमं प्राप्तं न किंचित् फलं
त्यक्त्वा जाति-कुलाभिमानमुचितं सेवा कृता निष्फला ।
भुक्तं मान-विवर्जितं पर-गृहेष्वाशङ्कया काकवत्
तृष्णे जृम्भसि पापकर्म-पिशुने नाद्यापि सन्तुष्यसि ।।२।।

अर्थ – अनेक दुर्गम विषम स्थानों में भटकने पर भी मुझे (धन आदि के रूप में) किसी भी फल की प्राप्ति नहीं हुई । अपने जाति-कुल के अभिमान को त्यागकर की हुई (धनवानों की) मेरी सेवा भी व्यर्थ गयी । कौए के समान डरते तथा अपमान सहते हुए मैं दूसरों के घर खाता रहा । रे पापकर्मों में रत रहनेवाली तृष्णे ! इतने पर भी तुझे सन्तोष नहीं हुआ, जो तू दिन-पर-दिन बढ़ती चली जा रही है ।

– भर्तृहरि

भजन-गीति

– १ –

(यमन–कहरवा)

जीव मत होना कभी हताश,
अन्तर में आलोकित स्वर्णिम, पूर्णानन्द प्रकाश ।।

उसे खोजते हो क्यों वन में, पाओगे निज अन्तर-मन में
छिपा हुआ है बीज-रूप वह, उसका करो विकास ।।

सारा जग यह ब्रह्मभूत है, दिव्य सनातन और पूत है,
उसे देखने का अब सबमें, करते रहो प्रयास ।।

उससे ओतप्रोत जग-जीवन, वही व्यापता है सब तन-मन,
आँख खोल देखो 'विदेह' नित, सदा स्वयं के पास ।।

– २ –

(छायानट–कहरवा)

सोऽहं सोऽहं जप मन विहंग ।
पाना चाहे जो फल अनुपम,
तो छोड़ पुराने रंग-ढंग ।।

पिंजरे में स्वेच्छा से बैठा,
उछला करता मद में ऐंठा,
इस दुखमय मिथ्या बन्धन से,
कब होगा तेरा मोहभंग ।।

माया का फैला गहन जाल,
कड़वे-मीठे फलयुक्त डाल,
तु फुदक-फुदक ऊपर चढ़ जा,
तो पाएगा नित ब्रह्मसंग ।।

जड़-जगत् समझ निर्जीव चित्र,
चंचलता दे अब त्याग मित्र,
तू साक्षी बनकर अब 'विदेह',
हो शान्त, बैठ मानो अपंग ।।

– विदेह

अवतार और मूर्तिपूजा

स्वामी विवेकानन्द

साधारण गुरुओं से उत्कृष्ट एक और श्रेणी के गुरु भी होते हैं, और वे हैं – इस संसार में ईश्वर के अवतार। वे केवल स्पर्श से, यहाँ तक कि इच्छा मात्र से ही आध्यात्मिकता प्रदान कर सकते हैं। उनकी इच्छा के द्वारा पतित-से-पतित व्यक्ति भी क्षण भर में साधु हो जाता है। वे गुरुओं के भी गुरु हैं – मनुष्य के माध्यम से ईश्वर की सर्वोच्च अभिव्यक्ति हैं। उनके माध्यम के अतिरिक्त हम अन्य किसी भी उपाय से ईश्वर को नहीं देख सकते। वस्तुत: एकमात्र वे ही ऐसे हैं, जिनकी उपासना करने को हम विवश हैं, जिनकी उपासना किये बिना हम रह नहीं सकते।

ईश्वर मनुष्य की दुर्बलताओं को समझते हैं और मानवता के कल्याणार्थ नरदेह धारण करते हैं। श्रीकृष्ण ने गीता में अवतार के सम्बन्ध में कहा है, "जब जब धर्म की ग्लानि होती है और अधर्म का अभ्युत्थान होता है, तब तब मैं अवतार लेता हूँ। साधुओं की रक्षा और दुष्टों के नाश के लिए तथा धर्म-संस्थापनार्थ मैं युग युग में अवतीर्ण होता हूँ।" "मूर्ख लोग मुझ जगदीश्वर के सच्चे स्वरूप को न जानने के कारण मुझ नरदेहधारी की अवहेलना करते हैं।" भगवान श्रीरामकृष्ण कहते थे, "जब एक विशाल लहर आती है, तो छोटे छोटे नाले और गड्ढे अपने आप ही लबालब भर जाते हैं, वैसे ही अवतार के जन्म लेने पर सारे संसार में आध्यात्मिकता की एक बड़ी बाढ़ आ जाती है और लोग वायु के कण कण में धर्मभाव का अनुभव करने लगते हैं।"

हम घटनाओं के अनन्त प्रवाह में स्थिर रहने में असमर्थ अनिवार्य रूप से अविराम अग्रसर होनेवाली छोटी छोटी तरंगों के सिवा और क्या हैं? मैं और तुम केवल क्षुद्र वस्तुएँ – बुलबुले मात्र हैं। विश्व-व्यापार के महासागर में कुछ विशाल तरंगें रहती ही हैं। मेरे और तुम्हारे जैसे क्षुद्र जनों में जाति के अतीत जीवन का अत्यल्प अंश ही व्यक्त होता है। पर ऐसे शक्तिसम्पन्न महापुरुष भी होते हैं, जो प्राय: सम्पूर्ण अतीत के साकार रूप होते हैं और जो मानो अपनी दीर्घ प्रसारित बाहुओं से सुदूर भविष्य की सीमाओं को भी स्पर्श करते रहते हैं। ये महापुरुष मानव-जाति के उन्नति-पथ पर यत्र-तत्र स्थापित मार्ग-दर्शक स्तम्भों के समान हैं। वे सचमुच इतने महान् हैं कि उनकी छाया मानो समग्र पृथ्वी को आच्छन्न कर लेती है; वे अमर, अनन्त और अविनाशी हैं।

जैसा कि कहा गया है, "ईश्वर-पुत्र के माध्यम बिना कभी किसी ने ईश्वर का साक्षात्कार नहीं किया है।' और यह कथन अक्षरश: सत्य है। ईश्वर-पुत्र के सिवा हम ईश्वर को और कहाँ देखेंगे? यह सच है कि मुझमें और तुममें, हममें से निर्धन से भी निर्धन और हीन से भी हीन व्यक्ति में भी परमेश्वर विद्यमान है, उनका प्रतिबिम्ब मौजूद है। प्रकाश की गति सर्वत्र है, उसका स्पन्दन सर्वव्यापी है, पर उस प्रकाश को देखने के लिए दीपक जलाने की जरूरत होती है। जगत् का सर्वव्यापी ईश्वर भी हमें तब तक दृष्टिगोचर नहीं होता, जब तक ये महान् शक्तिशाली दीपक, ये ईशदूत, ये उसके सन्देशवाहक और अवतार, ये नर-नारायण उसे स्वयं में प्रतिबिम्बित नहीं करते।

साकार ईश्वर की भी आवश्यकता है; और हम जानते हैं कि साकार ईश्वर की किसी भी वृथा कल्पना से बढ़कर बीच बीच में सजीव देवमानव इस लोक में जन्म लेकर हम लोगों के साथ रहते भी हैं। ... किसी प्रकार के काल्पनिक ईश्वर की अपेक्षा, अपनी काल्पनिक रचना की अपेक्षा, अर्थात् ईश्वर सम्बन्धी हमारी धारणा की अपेक्षा वे अधिक पूजनीय हैं। ईश्वर के बारे में हम जो भी धारणा रख सकते हैं, श्रीकृष्ण उसकी अपेक्षा बहुत बड़े हैं। हम अपने मन में जितने उच्च आदर्श का विचार कर सकते हैं, बुद्धदेव उसकी अपेक्षा अधिक उच्च तथा सजीव आदर्श हैं। इसीलिए सभी काल्पनिक देवताओं को पदच्युत करके वे चिर काल से मनुष्यों द्वारा पूजे जा रहे हैं। हमारे ऋषि यह जानते थे, इसीलिए उन्होंने समस्त भारतवासियों के लिए इन महापुरुषों, इन अवतारों की पूजा करने का मार्ग खोला है।

यद्यत् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥

– 'मनुष्यों में जहाँ भी अद्भुत आध्यात्मिक शक्ति का प्रकाश होता है, समझ लो कि वहाँ मैं ही वर्तमान हूँ; मुझसे ही इस शक्ति की अभिव्यक्ति होती है।' (गीता, १०/४३)

यह हिन्दुओं के लिए समस्त देशों के सभी 'देव-मानवों' की उपासना का द्वार खोल देता है। हिन्दू किसी भी देश के किसी भी साधु-महात्मा की पूजा कर सकते हैं। हम बहुधा ईसाइयों के गिरजों और मुसलमानों की मसजिदों में जाकर उपासना भी करते हैं। यह अच्छा है।

अत: ईश्वर की मनुष्य के रूप में उपासना करना अनिवार्य है और धन्य हैं वे जातियाँ जिनके पास ऐसे उपास्य 'देव-

मानव' हैं। ईसाइयों में ईसा मसीह के रूप में ऐसे मानवरूप-धारी ईश्वर हैं। मनुष्य में ईश्वर के दर्शन करना यही ईश्वर-दर्शन का स्वाभाविक मार्ग है। ईश्वर-सम्बन्धी हमारे समस्त विचार उसी में समाहित हो सकते हैं।

हम सिद्धान्तों की चर्चा करते हैं और मतवादों पर विचार करते हैं। यह ठीक है, पर हमारे हर कार्य, हर विचार से यही प्रकट होता है कि हम किसी तत्त्व को केवल तभी समझ पाते हैं, जब वह हमें किसी व्यक्ति-विशेष के माध्यम से प्राप्त होता है। किसी सूक्ष्म तत्त्व की धारणा में हम तभी समर्थ होते हैं, जब वह किसी व्यक्ति-विशेष के रूप में साकार रूप धारण कर लेता है। केवल दृष्टान्त की सहायता से ही हम उपदेशों को समझ पाते हैं। काश ! ईश्वरेच्छा से हम सब इतने उन्नत होते कि हमें तत्त्व-विशेष की धारणा करने में दृष्टान्तों व आदर्श-व्यक्तियों के माध्यम की जरूरत न पड़ती ! पर हम उतने उन्नत नहीं हैं; इसलिए स्वभावत: अधिकांश मनुष्यों ने इन असाधारण व्यक्तियों – ईसाइयों, बौद्धों और हिन्दुओं द्वारा पूजित इन पैगम्बरों और अवतारों को आत्म-समर्पण कर दिया है।

निर्गुण परब्रह्म की उपासना नहीं की जा सकती, इसलिए हमें अपने ही सदृश स्वभाव-सम्पन्न उनके प्रकाश-विशेष की उपासना करनी होगी। ईसा हम लोगों के जैसे मानव-प्रकृति-सम्पन्न थे – वे मसीह हो गये थे। हम भी उनके जैसे मसीह हो सकते हैं और हमें वही होना है। मसीह और बुद्ध अवस्था विशेष का नाम है, जिसकी हमें प्राप्ति करनी है। ईसा और गौतम वे व्यक्ति हैं जिनमें यह अवस्था व्यक्त हुई।

विभिन्न देशों, विभिन्न जातियों और विभिन्न मतों के उन सभी पूर्ववर्ती महापुरुषों को हम प्रणाम करते हैं, जिनके चरित्र तथा उपदेश हमें उत्तराधिकार में मिले हैं। विभिन्न जातियों, देशों व धर्मों में जो देवतुल्य नर-नारी मानव-जाति के हित में निरत हैं, उन सबको प्रणाम है। भविष्य में हमारे वंशजों के लिए निष्काम भाव से कार्य करने के लिए जीवन्त ईश्वर-रूप जो महापुरुष अवतार लेंगे, उन सबको प्रणाम है।

मूर्तिपूजा

परमेश्वर नित्य, निराकार और सर्वव्यापी हैं। उन्हें कोई विशेष रूपधारी समझना ईशनिन्दा होगी। परन्तु मूर्तिपूजा का रहस्य यह है कि तुम किसी एक वस्तु में अपनी ईश्वर-बुद्धि विकसित करने का प्रयत्न कर रहे हो।

संसार के मुख्य धर्मों में से वेदान्त, बौद्ध धर्म और ईसाई धर्म के कुछ सम्प्रदाय बिना किसी आपत्ति के प्रतिमाओं का उपयोग करते हैं। केवल इस्लाम और प्रोटेस्टेंट – ये ही दो ऐसे धर्म हैं, जो इस सहायता की जरूरत नहीं मानते। फिर भी, मुसलमान मूर्ति के स्थान पर अपने पीरों और शहीदों की कब्रों का उपयोग करते हैं। और प्रोटेस्टेंट लोग धर्म में सब प्रकार की बाह्य सहायता का तिरस्कार कर धीरे धीरे साल-दर-साल आध्यात्मिकता से दूर हटते चले जा रहे हैं।

तुममें से प्रत्येक व्यक्ति ने सर्वव्यापी परमेश्वर में विश्वास करना सीखा है। वही सोचने की चेष्टा करो। तुममें कितने कम लोग सर्वव्यापित्व की कल्पना कर सकते हैं ! यदि तुम बहुत प्रयत्न करो, तो तुम्हें समुद्र की, आकाश की, विस्तृत हरियाली की या मरुभूमि की ही कल्पना आयेगी। लेकिन ये सब स्थूल आकृतियाँ हैं और जब तक तुम अमूर्त की अमूर्त रूप से ही कल्पना नहीं कर सकते और जब तक तुम्हें निराकार का निराकार के रूप में ही बोध नहीं होता, तब तक तुम्हें इन आकृतियों का, इन स्थूल मूर्तियों का आश्रय लेना ही होगा। ये आकृतियाँ चाहे मन के अन्दर हों, या मन के बाहर, इससे कुछ ज्यादा अन्तर नहीं होता। हम सब जन्म से ही मूर्तिपूजक हैं। और मूर्तिपूजा अच्छी है, क्योंकि मनुष्य के लिए यह अत्यन्त स्वाभाविक है। इस उपासना से परे कौन जा सकता है? केवल वही, जो सिद्ध पुरुष है, जो अवतारी पुरुष है। बाकी सब मूर्तिपूजक ही हैं। जब तक यह विश्व और उसमें की मूर्त वस्तुएँ हमारी आँखों के सामने खड़ी हैं, तब तक हममें से प्रत्येक मूर्तिपूजक है। स्वयं यह विश्व ही एक विशाल प्रतीक है, जिसकी हम पूजा कर रहे हैं। जो कहता है कि मैं शरीर हूँ, वह जन्म से ही मूर्तिपूजक है। हम हैं आत्मा, जिसका न कोई आकार है, न रूप, जो अनन्त है और जिसमें जड़त्व का सम्पूर्ण अभाव है। अतएव, जो लोग अमूर्त की धारणा तक नहीं कर सकते, जो शरीर या जड़ वस्तुओं का आश्रय लिये बिना अपने वास्तविक स्वरूप का चिन्तन नहीं कर सकते, वे मूर्तिपूजक ही हैं। और फिर भी, ऐसे लोग एक दूसरे को 'तुम मूर्तिपूजक हो' कहते हुए आपस में कैसे झगड़ते हैं ! दूसरे शब्दों में, प्रत्येक कहता है कि मेरी ही मूर्ति सच्ची है, दूसरों की नहीं !

दो प्रकार के मनुष्यों को किसी मूर्ति की आवश्यकता नहीं होती – एक तो मानव-रूपधारी पशु को, जो कभी धर्म का विचार ही नहीं करता; और दूसरा पूर्णत्व प्राप्त व्यक्ति को, जो इन सब सीढ़ियों को पार कर चुका है। इन दोनो छोरों के बीच, हम सबको अपने भीतर और बाहर किसी-न-किसी आदर्श की आवश्यकता होती ही है।

यह कहना बड़ा आसान है कि 'व्यक्ति की उपासना मत करो', पर सामान्यत: जो मनुष्य ऐसा कहता है, वही व्यक्तित्व का सबसे बड़ा उपासक देखने में आता है। उसका विशेष विशेष पुरुषों तथा नारियों के प्रति अत्यधिक लगाव हुआ करता है। उन लोगों की मृत्यु के बाद भी वह आसक्ति नही जाती और तब भी वह उनका अनुसरण करना चाहता है। यह मूर्तिपूजा है, उसका आदि कारण या बीज है, और कारण

का अस्तित्व रहने पर वह किसी-न-किसी रूप में जरूर प्रकट होगा। क्या किसी साधारण पुरुष या स्त्री के प्रति आसक्ति रखने की अपेक्षा ईसा या बुद्ध की मूर्ति के प्रति व्यक्तिगत आसक्ति रखना कहीं अधिक श्रेष्ठ नहीं है?

आजकल मूर्ति-पूजा को गलत बताने की प्रथा-सी चल पड़ी है, और सब लोग बिना किसी आपत्ति के उसमें विश्वास भी करने लगे हैं। मैंने भी एक समय ऐसा ही सोचा था और उसके दण्ड-स्वरूप मुझे ऐसे व्यक्ति के चरणों में बैठकर शिक्षा ग्रहण करनी पड़ी, जिन्होंने सब कुछ मूर्तिपूजा के ही द्वारा प्राप्त किया था, मेरा अभिप्राय श्रीरामकृष्ण परमहंस से है। यदि मूर्तिपूजा के द्वारा श्रीरामकृष्ण परमहंस पैदा हो सकें, तो और हजारों मूर्तियों की पूजा करो। प्रभु तुम्हें सिद्धि दें!

ईसाई समझते हैं कि ईश्वर जब पँडुकी के रूप में आया, तब तो ठीक था; परन्तु जब वह हिन्दुओं के मतानुसार मत्स्य के रूप में आता है, तो वह बिल्कुल गलत और अन्धविश्वास है। यहूदी समझते हैं कि मूर्ति यदि सन्दूक के आकार की हो, जिसके किनारों पर दो देवदूत बैठे हों और जिसमें एक पुस्तक हो, तब तो वह ठीक है, पर यदि वही मूर्ति पुरुष या स्त्री की आकृति में हो, तो भयंकर है! मुसलमान सोचते हैं कि नमाज के समय यदि अपने मन में मसजिद और काबा की प्रतिमा लाने की चेष्टा करें और अपना मुँह पश्चिम की ओर कर लें, तो बिल्कुल दुरुस्त है, पर यदि प्रतिमा चर्च-जैसी हो, तो वह मूर्तिपूजा है। यह है मूर्तिपूजा का दोष।

तुम किसी भी वस्तु की पूजा कर सकते हो – पर हाँ, उसमें ईश्वर को देखते हुए। मूर्ति को भूल जाओ और उसमें ईश्वर के दर्शन करो। तुम ईश्वर पर किसी प्रतिमा का आरोपण मत करो, बल्कि प्रतिमा में ईश्वर को व्याप्त देखो। प्रतिमा को भूल जाओ, तभी तुम सही रास्ते पर होगे, क्योंकि 'उसी ईश्वर से सभी वस्तुओं की उत्पत्ति हुई है।' वह ईश्वर सभी वस्तुओं में है। हम एक चित्र की पूजा ईश्वर की तरह कर सकते हैं, पर ईश्वर को वह चित्र मानकर नहीं। चित्र में ईश्वर की भावना करना ठीक है, पर चित्र को ईश्वर समझना भूल है। प्रतिमा में ईश्वर मानना तो ठीक है, उसमें कोई खतरा नहीं; ईश्वर की सच्ची पूजा यही है।

शास्त्र कहता है – "बाह्य पूजा या मूर्तिपूजा सबसे निम्न अवस्था है; उससे ऊपर उठने की चेष्टा करते हुए मानसिक प्रार्थना, साधना की दूसरी अवस्था है और सबसे उच्च अवस्था तो वह है, जब परमेश्वर का साक्षात्कार हो जाय।" देखिए, वही अनुरागी साधक, जो पहले मूर्ति के सामने प्रणत रहता था, अब क्या कहता है – "सूर्य उस परमात्मा को प्रकाशित नहीं कर सकता, न चन्द्रमा या तारागण ही; वह विद्युत्प्रभा भी परमेश्वर को उद्भासित नहीं कर सकती, तब इस सामान्य अग्नि की बात ही क्या! ये सभी उसी परमेश्वर के कारण प्रकाशित होते हैं।" पर वह किसी की मूर्ति को गाली नहीं देता और न उसकी पूजा को पाप ही बताता है। वह तो उसे जीवन की एक आवश्यक अवस्था जानकर उसको स्वीकार करता है। 'बालक ही मनुष्य का जनक है।' तो क्या जो व्यक्ति वृद्ध हो गया है, वह बचपन या जवानी को पाप या बुराई कहेगा!

अनेकता में एकता ही प्रकृति का विधान है और हिन्दुओं ने इसे स्वीकार किया है। बाकी सभी धर्मों में कुछ निर्दिष्ट मतवाद विधिबद्ध कर दिये गये हैं और सारे समाज को उन्हें मानना अनिवार्य कर दिया जाता है। वह समाज के सामने केवल एक ही आकार के कोट रख देता है, जो हर किसी के शरीर पर फिट बैठना चाहिए। यदि किसी के शरीर पर वह फिट नहीं बैठता, तो उसे अपना तन ढँके बिना ही रहना होगा। हिन्दुओं ने यह जान लिया है कि निरपेक्ष ब्रह्म-तत्त्व का साक्षात्कार, चिन्तन या वर्णन केवल सापेक्ष के सहारे ही सम्भव है और मूर्तियाँ, क्रूस या नवोदित चन्द्र केवल विभिन्न प्रतीक हैं, वे मानो बहुत-सी खूँटियाँ हैं, जिन पर धार्मिक भावनाएँ लटकायी जाती हैं। ऐसा नहीं है कि इन प्रतीकों की जरूरत हर किसी को हो, पर जिन्हें अपने लिए इन प्रतीकों की सहायता नहीं चाहिए, उन्हें यह कहने का अधिकार नहीं है कि वे गलत हैं। हिन्दू धर्म में वे अनिवार्य नहीं हैं।

भारत में मूर्तिपूजा कोई जघन्य बात नहीं है। वह दुराचार की जननी नहीं, वरन् अविकसित मन के लिए उच्च आध्यात्मिक भाव को ग्रहण करने का उपाय है। हिन्दुओं के अपने दोष हैं, उनके कुछ अपने अपवाद हैं, पर यह ध्यान रहे – उनके वे दोष अपने शरीर को ही उत्पीड़ित करने तक सीमित हैं, वे कभी अपने पड़ोसियों का गला काटने नहीं जाते। एक हिन्दू धर्मान्ध भले ही अपने आपको चिता पर जला डाले, पर वह विधर्मियों को जलाने के लिए कभी 'इंक्विजिशन' की अग्नि प्रज्वलित नहीं करेगा। और इस बात के लिए उसके धर्म को उससे अधिक दोषी नहीं ठहराया जा सकता, जितना डाइनों को जलाने का दोष ईसाई-धर्म पर मढ़ा जा सकता है।

अन्धविश्वास मनुष्य का महान् शत्रु है, पर धर्मान्धता तो

उससे भी बढ़कर है। ईसाई गिरजाघर क्यों जाता है? सलीब क्यों पवित्र है? प्रार्थना के समय आकाश की ओर मुँह क्यों किया जाता है? कैथोलिक ईसाइयों के गिरजाघरों में इतनी मूर्तियाँ क्यों रहा करती हैं? और प्रोटेस्टेंट ईसाइयों के मन में प्रार्थना के समय इतनी मूर्तियाँ क्यों रहा करती हैं? भाइयो ! मन में किसी मूर्ति के बिना आये कुछ सोच सकना उतना ही असम्भव है, जितना श्वास लिये बिना जीवित रहना। साहचर्य के नियमानुसार भौतिक मूर्ति से मानसिक भावविशेष का उद्दीपन हो जाता है अथवा मन में भावविशेष का उद्दीपन होने से तदनुरूप मूर्तिविशेष का भी आविर्भाव होता है। इसीलिए तो हिन्दू आराधना के समय बाह्य प्रतीक का उपयोग करता है। वह आपको बतायेगा कि यह बाह्य प्रतीक उसके मन को अपने ध्यान के विषय परमेश्वर में एकाग्रता से स्थिर रहने में सहायता देता है। इस बात को वह भी उतनी ही अच्छी तरह जानता है, जितना आप जानते हैं कि वह मूर्ति न तो ईश्वर है और न सर्वव्यापी ही। और सच पूछिए तो दुनिया के लोग 'सर्वव्यापित्व' का क्या अर्थ समझते हैं? वह तो मात्र एक शब्द या प्रतीक मात्र है। क्या परमेश्वर का भी कोई क्षेत्रफल है? यदि नहीं, तो जब हम सर्वव्यापी शब्द का उच्चारण करते हैं, उस समय हम विस्तृत आकाश या देश की ही कल्पना करने के सिवा और क्या करते हैं?

ईश्वर का साक्षात्कार करके मनुष्य को दिव्य बनना है। मूर्तियाँ, मन्दिर, गिरजाघर या ग्रन्थ तो धर्म-जीवन के प्रारम्भ में केवल आधार या सहायक मात्र हैं; पर उसे उत्तरोत्तर उन्नति ही करनी होगी।

हमें बचकानी कल्पनाओं का त्याग कर देना चाहिए। हमें उन लोगों की थोथी बकवास से परे चले जाना चाहिए, जो समझते हैं कि सारा धर्म शब्दजाल में ही समाया है, जिनकी समझ में धर्म केवल सिद्धान्तों का एक समूह मात्र है, जिनके लिए धर्म केवल बुद्धि की सम्मति या विरोध है, जो धर्म का अर्थ केवल अपने पुरोहितों द्वारा बतलाये हुए कुछ शब्दों में विश्वास करना ही समझते हैं, जो धर्म को कोई ऐसी वस्तु समझते हैं, जो उनके बाप-दादाओं के विश्वास का विषय था, जो कुछ विशिष्ट कल्पनाओं और अन्धविश्वासों को ही धर्म मानकर उनसे चिपके रहते हैं और वह भी केवल इसलिए कि यह अन्धविश्वास उनके समस्त राष्ट्र का है। हमें इन कल्पनाओं को त्याग देना चाहिए। अखिल मानव समाज को हमें एक ऐसा विशाल प्राणी समझना चाहिए, जो धीरे धीरे प्रकाश की ओर बढ़ रहा है या एक ऐसा अद्भुत पौधा समझना चाहिए, जो उस अद्भुत सत्य के प्रति स्वयं को शनैः शनैः प्रकट कर रहा है, जिसे हम ईश्वर कहते हैं। और इस ओर की पहली हलचल, पहली गति सदा बाह्य अनुष्ठानों तथा स्थूल वस्तुओं द्वारा ही होती है। ❑❑❑

नारी है नारायणी

भानुदत्त त्रिपाठी 'मधुरेश'

जहाँ सुशीला नारियाँ, पाती हैं अपमान।
वहाँ शान्ति-सुख का कभी, होता नहीं विहान।।

नारी के सत्कार से, खुले शान्ति-सुख-द्वार।
नारी तो नरलोक की, परम शक्ति साकार।।

नारी है नारायणी, यह कहते जब लोग।
तो मन में क्यों पालते, नारी के प्रति रोग।।

लज्जा-दया-सुशीलता, नारी का शृंगार।
जिसमें तीनों गुण नहीं, वह नारी अंगार।।

नारी का सम्मान है, नर का निश्चित धर्म।
किन्तु न भूलें नारियाँ, अपना पावन कर्म।।

नारी का सम्मान है, नारी के ही हाथ।
यदि नारी संसार में, रहे तेज के साथ।।

नारी के सम्मान में, नर का है सम्मान।
नारी ही बनती सदा, जग का नव्य निदान।।

जहाँ न नारी में रहे, लज्जा औ मर्याद।
उस समाज, उस देश में, जीवन का क्या स्वाद !!

भौतिकता के मोह में, नारी चले उतान।
कौन करेगा तब भला, नारी का सम्मान !!

नारी, नारी है उसे, नर न बनाओ मित्र।
कभी अन्यथा; लोक का बिगड़ेगा शुभ चित्र।।

लोग कहें - नारी बुरी, और नरक का द्वार।
पर, सावित्री के सदृश, नारी है अवतार।।

सबला है, अबला नहीं, सबको है वरदान।
यदि अपनी शिवशक्ति को, नारी ले पहचान।।

धनुष-यज्ञ का तात्पर्य (४/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(आश्रम द्वारा जनवरी २००२ ई. में आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती-समारोह के समय पण्डितजी ने 'धनुष-यज्ञ' पर ७ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत लेख उसके चौथे प्रवचन का पूर्वार्ध है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है। – सं.)

महाराज जनक भगवान शंकर के धनुष की नित्य पूजा करते थे। पहले उस धनुष की पूजा और फिर उस धनुष का विखण्डन – इसके पीछे निहित तात्पर्य क्या है?

जिस युग में परब्रह्म परमात्मा ने भगवान श्रीराम के रूप में अवतार लिया, उस युग में उन्होंने रामराज्य की स्थापना की। वह रामराज्य समस्त प्राणियों के कल्याण का हेतु हुआ, उनके दु:ख को विनष्ट करके समग्र सुख का साधन बना। पर यह श्रीराम कौन हैं? इसको जाने बिना कथा में प्रवेश सम्भव नहीं होगा।

कई बार लोग मुझसे पूछते हैं – इस युग में भी रामराज्य बन सकता है या नहीं? उनसे मैं यही कहता हूँ कि अगर आप राम को जाने बिना रामराज्य के उन वाक्यों को जीवन और समाज में शब्दश: पाना चाहें, तो वह अत्यन्त कठिन और असम्भव जैसा है। पर श्रीराम को जान लेने और उनके उस दिव्य रूप का साक्षात्कार कर लेने पर ही जीवन में कृतकृत्यता का बोध होता है। श्रीमद्-भगवद्-गीता में एक सूत्र दिया गया है और इस पूरे प्रसंग में उसी का विस्तार है।

कर्म की समस्या बड़ी जटिल है। कर्म किए बिना व्यक्ति रह नहीं पाता। कर्म के बिना जीवन असम्भव है। कर्म के द्वारा जो समस्याएँ उत्पन्न होती हैं, उनके समाधानों में एक है – समर्पण। कर्म करते हुए यदि हम उस कर्म को, कर्म के सन्दर्भ को, कर्म के आश्रय को भगवान को अर्पित कर दें, तो हम उस कर्म के परिणाम से मुक्त हो सकते है। इसलिए भगवान श्रीकृष्ण जब अर्जुन को आदेश देते हैं कि तुम युद्ध करो, तो उसका अभिप्राय क्या है?

यों तो युद्ध हिंसा के रूप में ही दिखाई देता है, पर उस संहार में भी एक बड़ी सूक्ष्म बात है। एक व्यक्ति पूजन करते हुए दिखाई दे रहा है और दूसरा व्यक्ति युद्ध करते हुए। पूजन करनेवाले को हम भक्त या साधु-सन्त मानते हैं और युद्ध या संहार में संलग्न व्यक्ति को हम वीर कहेंगे, पर हम उसे सन्त या भक्त के रूप में नहीं देखते। पर भगवान ने जो सूत्र दिया वह क्या है? भगवान कहते हैं – अर्जुन, जब तक यह वृत्ति बनी रहेगी कि कर्म करनेवाले हम हैं और इसका फल हमें मिलना चाहिए, तब तक व्यक्ति सुख और दु:ख के चक्र से मुक्त नहीं हो सकता। पर जीवन में जितने भी कर्म होते हैं, उन्हें यदि व्यक्ति मुझे समर्पित कर दे, तो उनका फल उसके जीवन में सुख-दु:ख के रूप में नहीं आयेगा। भगवान के श्रीमुख से यह वाक्य निकला –

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।। ९/२७

यह जो रामकथा है, इसके दो पक्ष हैं। एक तो ऐतिहासिक पक्ष है। राक्षसों के द्वारा यज्ञ नष्ट किए जा रहे थे, मुनियों को कष्ट दिए जा रहे थे। भगवान श्रीराम ने अवतार लेकर राक्षसों को दण्ड देकर, उनका वध करके मुनियों को निर्भय किया और समाज में रामराज्य स्थापित हुआ। और इसका जो दूसरा पक्ष है, वह समाज के लिए निश्चित रूप से परम कल्याणकारी है। इस प्रसंग को भी यदि इसी दृष्टि से देखें, तो यह पूरा प्रसंग समर्पण की व्याख्या और उसके स्वरूप को ही प्रकट करनेवाला है। विश्वामित्र जी यज्ञ करते हैं, तो यज्ञ पूर्ण नहीं हो पाता। ध्यान करने पर उन्हें ऐसा संकेत प्राप्त होता है कि जब तक ताड़का, सुबाहु तथा मारीच का वध नहीं होगा, तब तक यह यज्ञ पूर्ण नहीं होगा। साथ ही वे यह भी अनुभव करते हैं कि इनका विनाश तो एकमात्र ईश्वर ही कर सकते हैं। आगे और भी गहराई में जब उन्होंने ध्यान किया तो यह दिखाई दिया कि वे ईश्वर तो अवतरित भी हो चुके हैं। उनको हम ले आयें। उनके द्वारा इन राक्षसों का विनाश हो और यज्ञ को पूर्णता प्राप्त हो। यहीं से समर्पण की प्रकिया शुरू होती है। महाराज दशरथ से महर्षि विश्वामित्र ने याचना की –

अनुज समेत देहु रघुनाथा।
निसिचर बध मैं होब सनाथा।। १/२०७/१०

और महाराज दशरथ के हृदय की जो ममता है, वह उन्हें रोकती है। ममताग्रस्त और आसक्त व्यक्ति की भाषा में वे बोले – महाराज, आपने पुत्रों की याचना तो कर दी, पर यह एक नये प्रकार की याचना है; आप जरा सोचिए तो सही – चौथी अवस्था में मैंने चार ही तो पुत्र पाये –

चौथेंपन पायउँ सुत चारी।
बिप्र बचन नहिं कहेहु बिचारी।। १/२०८/२

कितना बड़ा व्यंग्य है! कहाँ तो एक पुत्र प्राप्त करने के

लिए व्यग्र थे और अब चार मिलने पर भी कमी ही दिखाई दे रही है ! यही दशा हम लोगों की भी है। हम लोग जो चाहते हैं, उससे चौगुना मिल जाय तो भी सन्तोष नहीं होता। वे बोले – महाराज, मेरे चार ही तो पुत्र हैं और उनमें राम तो मुझे अत्यन्त प्रिय है; मैं कैसे दे दूँ ! उस समय गुरु वशिष्ठ ने महाराज दशरथ को दे देने के लिए प्रेरित किया।

तब बसिष्ठ बहुबिधि समुझावा ।। १/२०८/८

यहीं से समर्पण प्रारम्भ होता है। गोस्वामी जी ने जिस क्रम से वर्णन किया है, उसे आप ध्यान में रखेंगे। गुरु की भूमिका क्या है? ममता और आसक्ति के फलस्वरूप महाराज दशरथ को ऐसा अनुभव होता है और वे विश्वामित्र जी से कह भी देते हैं – महाराज, मैं सब कुछ दे सकता हूँ, पर सभी पुत्र मुझे प्राणों से प्रिय हैं और उनमें भी राम को देना तो बिल्कुल भी सम्भव नहीं है –

सब सुत प्रिय मोहि प्रान की नाईं ।
राम देत नहिं बनइ गोसाईं ।। १/२०८/५

गुरु का कार्य है शिष्य की आसक्ति और ममता को दूर करना। गुरु वशिष्ठ ने अपने उपदेश के द्वारा महाराज दशरथ को प्रेरित किया कि वे राम और लक्ष्मण को दे दें। महाराज एक सकाम व्यक्ति के रूप में पुत्रेष्टि यज्ञ कर चुके हैं। उसी के फलस्वरूप उन्होंने चार पुत्र पाये। तो सकाम भाव से किये जानेवाले कर्म का परिणाम भी अन्ततोगत्वा समर्पण ही होना चाहिए। दशरथ जी के ऊपर गुरु विश्वामित्र के उपदेश का प्रभाव यह पड़ा कि उन्होंने समर्पण किया और यह कहते हुए किया कि – महाराज, ये दोनों पुत्र मेरे प्राण हैं, अब से अन्य कोई भी नहीं, आप ही इनके पिता हैं –

मेरे प्रान नाथ सुत दोऊ ।
तुम्ह मुनि पिता आन नहिं कोऊ ।। १/२०८/१०

अभी तक मैं यह मानकर चल रहा था कि मैं ही इनका पिता हूँ, पर आज मैं अपने ये दो पुत्र और अपना पितृत्व भी आपको अर्पित करता हूँ। इस प्रकार समर्पण किया गया। और इसका अभिप्राय है कि जब आप सकाम कर्म करते हैं तो भी समर्पण ही तो उसकी अन्तिम परिणति होनी चाहिए। वहाँ पर यही शब्द आता है – राजा ने अनेक प्रकार से आशीर्वाद देकर पुत्रों को ऋषि के हाथों सौंप दिया –

सौंपे भूप रिषिहि सुत
बहुबिधि देइ असीस । १/२०८/क

महाराज दशरथ ने पुत्रों को समर्पित किया। यह समर्पण की प्रक्रिया है। **जब हम कर्म के द्वारा प्राप्त फल को भगवान के प्रति अर्पित कर देते हैं, तो हमारी सकामता भी धन्य हो जाती है।** समर्पण की प्रक्रिया अब क्रमशः आगे की ओर बढ़ती जा रही है। विश्वामित्र जी श्रीराम-लक्ष्मण को लेकर चले। अब दूसरा समर्पण। दशरथ सकाम हैं, विश्वामित्र में वैसी कोई कामना नहीं है। अब वह दृश्य आता है जिसका संकेत किया गया था। जब वे श्रीराम और लक्ष्मण को लेकर जा रहे थे, तो सहसा वह ताड़का राक्षसी सामने आई, जो बड़ी क्रूर है और उसके दो पुत्र हैं, जिनके द्वारा यज्ञ नष्ट किया जाता है। ताड़का ने देखा कि आज इस मुनि के साथ धनुष-बाण-धारी दो राजकुमार आ रहे हैं।

समय होता तो मैं थोड़ी सांकेतिक व्याख्या करता, पर सूत्र यह है कि ताड़का क्रोध से भरी हुई है –

चले जात मुनि दीन्हि देखाई ।
सुनि ताड़का क्रोध करि धाई ।। १/२०९/५

क्रोध का मूल कारण क्या है? रामायण में इसका उत्तर दिया गया – जब तक व्यक्ति के अन्तःकरण में द्वैतबुद्धि है, तब तक उसको क्रोध आना अवश्यभावी है और द्वैत तो अज्ञान के कारण होता है –

क्रोध कि द्वैतबुद्धि बिनु
द्वैत कि बिनु अग्यान ।। ७/१११/ख

मानो यह ताड़का द्वैत बुद्धि है और उस द्वैत का भगवान ने अद्वैत से विनाश किया। बस, द्वैत के स्थान पर एक आ गया। यहाँ अध्यात्म में उल्टी पढ़ाई है। संसार में तो आप गणना करते हैं – एक, दो, तीन, चार ... पर अध्यात्म में ज्ञान की जो पढ़ाई है, वह आप चाहे जहाँ से आरम्भ कीजिए, पर अन्त में एक अंक आना चाहिए। एक का अंक आया, तो आपका गणित ठीक है। संसार की दृष्टि में सबसे छोटा अंक एक है, यहीं से विस्तार होता है, पर अध्यात्म में तो एक ही चरम लक्ष्य है। बड़ी-से-बड़ी संख्या को लौटकर उस एक में ही पहुँचना है –

एकहिं बान प्रान हरि लीन्हा ।
दीन जानि तेहि निज पद दीन्हा ।। १/२०९/६

उसको नष्ट करने का क्या तात्पर्य है? भगवान ने क्या उसे दण्ड देने के लिए मारा? नहीं, भगवान को लगा कि इस अज्ञान और द्वैत के कारण ही तो इसे क्रोध आ रहा है, अतः जब तक यह मुझसे अलग रहेगी, तब तक द्वैत-बुद्धि रहेगी और तब तक क्रोध भी रहेगा। और यदि मैं इसे अपने में लीन कर लूँ, तो दोनों अलग नहीं रह जाएँगे, दो नहीं रह जाएँगे। इसलिए – 'दीन जानि तेहि निज पद दीन्हा।' द्वैत-बुद्धि मिटी और वह ताड़का जो श्रीराम को शत्रु मानकर क्रोध से दौड़ी थी, अब भगवान में ही समा गई। बड़ा अद्भुत दृश्य था ! पढ़कर बड़ा आश्चर्य होता है।

महर्षि विश्वामित्र को पहले ही अपने आश्रम में ध्यान करते समय ही ज्ञात हो चुका था कि भगवान का श्रीराम के रूप में अवतार हो चुका है, पर वहाँ पर एक बड़ी अनोखी चौपाई आती है और वह समझने योग्य है। ताड़का को जब एक ही बाण से मारकर प्रभु ने अपने में लीन कर लिया, तब

विश्वामित्र जी ने अपने प्रभु को पहचान लिया और उन्हें विद्या का भण्डार जानते हुए भी अपनी विद्या प्रदान की –

तब रिषि निज नाथहि जियँ चीन्ही ।
बिद्यानिधि कहुँ बिद्या दीन्ही ।। १/२०९/७

क्या अब तक वे नहीं पहचानते थे? जानकर ही तो गये थे, माँगकर लाए थे, इतने दिनों तक साथ रहे थे, पर जब तक ताड़का का विनाश नहीं हो गया, तब तक उनको सच्चा परिचय नहीं मिला। इसका अर्थ है कि भगवान को केवल शरीर अथवा रूप से पा लेना ही भगवत्प्राप्ति नहीं है। जब द्वैत-बुद्धि का विनाश हुआ, तभी पहचान सके।

जब भगवान राम अयोध्या से विश्वामित्र जी के साथ उनके आश्रम की ओर चले, तो मार्ग में वे ऐसी कौतुक-लीला करते हुए चल रहे थे कि महर्षि विश्वामित्र इतने बड़े महामुनि, इतने बड़े विरागी होते हुए भी थोड़ी देर के लिए उस लीला में श्रीराम की महिमा, उनका स्वरूप भूल गये।

भगवान श्रीराम और लक्ष्मण विश्वामित्र के साथ जा रहे थे। यह उनके लिए बिल्कुल नये प्रकार की यात्रा थी। आज तक तो कहीं जाते थे, तो रथ होता था, रथी होते थे और साथ में सैनिक भी होते थे। परन्तु यह पहली यात्रा थी, जिसमें श्रीराम और लक्ष्मण महामुनि के साथ पैदल चल रहे थे। विश्वामित्र के इस कार्य से प्रभु को बड़ा आनन्द आया। किस बात का आनन्द आया? – यह कि रथ पर बैठकर तो बहुत चले, पर आज तो पृथ्वी का संस्पर्श हो रहा है, मानो पृथ्वी से एकत्व की अनुभूति हो रही है!

गीतावली रामायण में गोस्वामी जी ने एक बड़ी मधुर बात कही है। भगवान नए नए रूपों में लीला करते हुए चल रहे हैं। और विश्वामित्र जी तो न जाने कब से परिवार छोड़कर त्यागी महात्मा बन गये थे, परन्तु इन दोनों राजकुमारों के व्यवहार से उनके हृदय में वात्सल्य उमड़ने लगा। श्रीराम को सरोवर दिखाई पड़ा। उन्होंने कहा – बाबा, आपकी आज्ञा हो तो जरा सरोवर में स्नान कर लें। अब इतने बड़े मुनि हैं, पर उनसे ज्ञान-विज्ञान की चर्चा तो नहीं हो सकती, क्योंकि प्रभु बालक बने हुए हैं। विश्वामित्र जी बोले – किनारे बैठकर नहाना। अब भगवान की लीला विश्वामित्र जी पर प्रभाव डाल रही है। भगवान राम और लक्ष्मण तैरते हुए गहराई की ओर जाने लगे। सरोवर में कमल खिले हुए थे, वे जब कमल लेने को बढ़े, तो मुनि जी डर गये कि ये दोनों बालक हैं, कहीं डूब न जायँ। यही भगवान की रसमयी लीला है। उस लीला को देखकर बड़े-से-बड़ा ज्ञानी भी सम्मोहित हुए बिना नहीं रहता। गीतावली में गोस्वामी जी ने कहा –

पैठत सरनि सिलनि चढ़ि
चितवत खग मृग बन रुचिराई ।
सादर सभय सप्रेम पुलकि
मुनि पुनि-पुनि लेत बुलाई ।। (गीतावली, १/५२)

वे कहते हैं – "अरे, क्या कर रहे हो, डूब जाओगे, पानी बहुत है, मुझे बड़ा कलंक लगेगा। लौट आओ, तुरन्त आ जाओ।" अब यह मानो बड़ी मधुर बात हो गई न! दशरथ जी ने अपना पितृत्व इनके हृदय में मढ़ दिया था – आज से इनके पिता आप हैं, अब तक मैं था। तब प्रभु ने सोचा – जब इन्होंने पिता बनना स्वीकार ही किया है, इनमे पिता का वात्सल्य प्रगट हो, तभी तो लीला का आनन्द है। श्रीराम की बाललीला देखकर विश्वामित्र जी के हृदय में वात्सल्य उमड़ पड़ा। इतना ही नहीं, वन में श्रीराम जब पक्षियों को देखते हैं, तो उनकी नकल भी करने लगते हैं। कोयल बोल रही है, तो कोयल की तरह बोलने लग जाते हैं।

भगवान की इस विलक्षण लीला से विश्वामित्र जी को वात्सल्य रस की अनुभूति हुई। रसों की अनुभूति – वात्सल्य की अनुभूति ज्ञान से नहीं, भ्रम से होती है। **जीवन में आप आनन्द तभी ले सकते हैं, जब थोड़ा भ्रम बनाए रखें।** आप कहेंगे कि यह तो उल्टा पाठ है। जरा सोचिए – यदि आपमें यह भ्रम बना रहे कि सभी लोग आपको बहुत प्यार करते हैं, प्राणों से भी अधिक चाहते हैं, तो आपको अच्छा लगेगा और यदि यह भ्रम दूर हो जाय और लगने लगे कि ये तो सब-के-सब स्वार्थी हैं, तो आनन्द ही नहीं आयेगा। हर समय लगने लगे कि ये सभी स्वार्थी हैं, तो आपको आनन्द नहीं आयेगा। इसलिए व्यक्ति सच्चाई को थोड़े समय के लिए आँखों से ओझल रखता है, तभी आनन्द ले पाता है। **सारे सम्बन्ध का आनन्द केवल भ्रम के आधार पर टिका हुआ है** और यह भ्रम बनाए रखना चाहिए। यदि किसी के घर बच्चे का जन्म हुआ और वह सोचने लगे कि एक दिन तो यह मर जायेगा, तो बच्चे के जन्म का आनन्द तो कम आयेगा और भविष्य में उसके मरने का शोक अधिक छा जायेगा। यह सत्य है कि जिसका जन्म होगा, वह मरेगा ही, पर यदि जन्म के समय ही आप मरण के सत्य को जान लें, तब तो आप जन्म का आनन्द नही ले सकेंगे। घर में पुत्र का जन्म होता है, तो आनन्द की अनुभूति होती है और आप बाजे बजवाते हैं।

मुझे स्मरण आता है – आजमगढ़ में एक वैद्यजी थे, मुझसे बड़ा स्नेह करते थे। उन्होंने एक नया भवन बनवाया और उसके उद्घाटन के लिए मुझे बुलाया। वहाँ कुछ भजन संगीत का भी कार्यक्रम था। उसमें गायक महोदय ने उद्घाटन से पहले जो पहला भजन गाया, वह बिन्दुजी का बड़ा प्रसिद्ध पद था और वे उस पद के ये वाक्य गाने लगे –

रे मन, ये दो दिन का मेला रहेगा
कायम न जग का झमेला रहेगा ।।
एक दिन ठठरी का ठेला रहेगा । ...

वैद्यजी ने कहा – अब इन्हें आज ही ठठरी का ठेला ढुलवाना था ! बात भी सही है – ठठरी भी और ठेला भी, वही तो जीवन की अन्तिम परिणति है, परन्तु बेसुरा लग रहा है, क्योंकि यहाँ तो भवन के उद्‌घाटन का अवसर है। वैसे ही पुत्र के जन्म का आनन्द तो तभी रहेगा, जब थोड़ा-सा भ्रम बना रहे। यह भ्रम संसार के व्यवहार में सहायक तो है, पर मनुष्य का विषाद का नाश तभी होगा, जब ज्ञान होगा, भ्रम दूर होगा। **सत्य को जान लेने पर ही दुःख दूर होंगे।**

मुनि वशिष्ठ इस समय रस ले रहे हैं। मनु के रूप में दशरथ जी भी शुद्ध वात्सल्य-रस चाहते थे। कौशल्या जी ने श्रीराम से याचना की – यह तो मैं भी चाहती हूँ कि आप पुत्र के रूप में जन्म लें, लेकिन मुझे यह ज्ञान बना रहे कि आप ईश्वर हैं। भगवान ने मुस्कराकर मनु की ओर देखा – तुम्हें चाहिए या नहीं? तुम्हारे वरदान में से तो इन्होंने हिस्सा ले लिया, अब तुम? वे बोले – महाराज, इन्हीं को पूरा विवेक दीजिए, मैं तो जीवन में कभी भी आपको ईश्वर न मानूँ। मैं तो केवल इतना ही चाहता हूँ – आपके चरणों में मेरी वैसी ही प्रीति हो, जैसी पुत्र के लिए पिता की होती है। भगवान बोले – मुझे पुत्र मानोगे, तो लोग तुम्हें अज्ञानी कहेंगे। बोले – लोग भले ही मुझे बड़ा भारी मूर्ख समझें, कोई बात नहीं –

सुत बिषइक तव पद रति होऊ।
मोहि बड़ मूढ़ कहै किन कोऊ ।। १/१५१/५

विश्वामित्र भी मानो भ्रमित हो गये हैं और वात्सल्य-रस का आनन्द ले रहे हैं। श्रीराम को बुलाना, प्यार करना और उनकी वह लीला देखकर भयभीत होना कि कहीं सरोवर में डूब न जायँ। पर जब ताड़का आई तब? तब मानो स्थिति बदल गई। अब उस भ्रम का निराकरण करने के लिए उन्हें लगा – अरे, इसी का विनाश करने के लिए तो मैं माँगकर लाया था और यह सामने ही आ गई। प्रभु ने पहले तो लीला का माधुर्य प्रगट किया और अब ऐश्वर्य प्रगट किया –

एकहिं बान प्रान हरि लीन्हा। १/२०९/६

और भ्रम का आनन्द ले रहे महर्षि विश्वामित्र, तब सहसा पहचान गये कि अरे, ये तो साक्षात् ब्रह्म हैं, जिन्होंने उसकी द्वैत-बुद्धि का नाश करके उसे एकत्व या अद्वैत में स्थित कर दिया। और पहचानने का फल क्या हुआ? – **तत्त्व का ज्ञान** हो गया कि ये तो साक्षात् ईश्वर हैं –

तब रिषि निज नाथहि जियँ चीन्ही।
बिद्यानिधि कहुँ बिद्या दीन्ही ।। १/२०९/७
आयुध सर्ब समर्पि कै
प्रभु निज आश्रम आनि ।। १/२०९

विश्वामित्र स्वयं शस्त्रों के ज्ञाता थे और वे उन शस्त्रों को छोड़ चुके थे। और आज वे सब-के-सब प्रभु को समर्पित कर देते हैं। पहले दशरथ का समर्पण, उसके बाद **अब महर्षि विश्वामित्र का समर्पण।**

समर्पण की यह यात्रा बढ़ती जा रही है। भगवान श्रीराम विश्वामित्र जी के साथ धनुष-यज्ञ देखने जनकपुर जा रहे हैं। श्रीराम को इसमें निमंत्रण नहीं मिला है, पर विश्वामित्र जी को महाराज जनक ने बुलाया है। विश्वामित्र जी को लगा कि समर्पण की यह यात्रा अब जनकपुर की ओर होनी चाहिए। जनक महाज्ञानी हैं, वैराग्यवान हैं। उनकी प्रतिज्ञा है कि जो धनुष को तोड़ेगा, उसे मैं अपनी कन्या अर्पित करूँगा। **वहाँ धनुष का टूटना – यह समर्पण की तीसरी प्रक्रिया है।** ये सारे प्रसंग समर्पण से जुड़े हुए हैं। इसमें जनक जी की प्रतिज्ञा बड़ी तात्त्विक है। समर्पण में भी उसका अभिमान आ सकता है और आता है। अब यहाँ पर अहं के परित्याग और अहं के विनाश की जटिल प्रक्रिया चल रही है। कोई वस्तु आप किसी को देकर कहें कि मैंने यह वस्तु आपको दी, समर्पित की, तो आपके मन में एक प्रकार का सुखद अभिमान तो होगा ही कि मैंने दिया। मैंने दिया – दान का यह अभिमान छोड़ना बड़ा कठिन है। महाराज जनक की प्रतिज्ञा में तत्त्व क्या है? यदि धनुष टूट जाय और उसके बाद समर्पण हो, तो उसमें समर्पण का अभिमान नहीं रहेगा। वे चाहते है कि विवाह तभी हो, जब धनुष टूट जाय। ❖ **(क्रमशः)** ❖

जीने की कला (३३)

स्वामी जगदात्मानन्द

(लेखक रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी हैं। उन्होंने युवकों के लिए जीवन-निर्माण में मार्गदर्शन करने हेतु कन्नड़ भाषा में एक पुस्तक लिखी, जो अतीव लोकप्रिय हुई। इसका अंग्रेजी अनुवाद भी दो भागों में निकला है। इसकी उपयोगिता को देखकर हम इसका धारावाहिक प्रकाशन कर रहे हैं। अनुवादक हैं श्री रामकुमार गौड़, जो सम्प्रति आकाशवाणी के वाराणसी केन्द्र में सेवारत हैं। – सं.)

कर्तव्य : आध्यात्मिक जीवन का सहायक

कर्म उस आधार-स्तम्भ के समान है, जिस पर व्यक्ति की आध्यात्मिक प्रगति के कुछ पहलू विकसित होते हैं। यह किसी निर्माणाधीन भवन की छत को थामने के लिए बाँधे गए मचान के समान है। कोई भी कार्य तुच्छ या हेय नहीं है। व्यक्ति की वर्तमान आध्यात्मिक उन्नति के लिए यह आवश्यक है। भवन-निर्माण पूरा हो जाने पर, फिर मचान की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। वस्तुत: तब वह भवन के सौन्दर्य में बाधा उत्पन्न करता है। व्यक्ति को अपने सच्चे स्वरूप का बोध तथा पूर्णता-प्राप्ति के पूर्व तक जीवन-यापन हेतु किसी-न-किसी कार्य का सहारा लेना पड़ता है।

कैसी के मतानुसार किसी आजीविका को अपनाने के पूर्व व्यक्ति को निम्नलिखित बातों पर विचार कर लेना चाहिए –

१. अपने उद्देश्य या लक्ष्य का स्पष्ट बोध रहे।

२. सेवा का कोई भी अवसर हाथ से न जाने दो। जब कभी दूसरों की सहायता का अवसर मिले, उसे पूरे मन-प्राण से करो। कैसी के इन शब्दों को मत भूलो, "आप लोगों में से महानतम व्यक्ति सबका सेवक होगा।" "दूसरों की सेवा करना ईश्वर की सर्वोच्च सेवा है।" "कोई भी कार्य करते समय दूसरों के लिए उपयोगी होने का प्रयत्न करो।"

३. तेरह वर्ष के एक बुद्धिमान बालक में अनेक प्रतिभाएँ थीं। उसने कैसी से पूछा कि आर्थिक समृद्धि के चरण शिखर पह पहुँचने के लिए उसे कौन-सा उद्यम चुनना चाहिए। कैसी ने कहा, "केवल आर्थिक समृद्धि की दृष्टि से मत सोचो। कोई ऐसा कार्य चुनो, जिसके द्वारा तुम संसार को अधिकतम योगदान कर सको, जिसके द्वारा यह संसार रहने-योग्य एक बेहतर स्थान बन सके। केवल धन कमाने की दृष्टि से ही किसी कार्य को मत चुनो। यदि तुम दूसरों के कल्याणार्थ कार्य करने में अपनी शक्तियाँ लगाओगे, तो निश्चय ही तुम यथेष्ट धन कमाने में समर्थ हो सकोगे।"

४. किसी कार्य को केवल लाभ की दृष्टि से मत देखो। इसको सर्वहित में अपने लघु योगदान के एक अवसर के रूप में देखो। कुछ श्रमिक एक चर्च के निर्माण में लगे थे। किसी ने उनसे पूछा, "तुम क्या कर रहे हो?" पहला श्रमिक बोला, "क्या तुम नहीं देखते – मैं ईंटें जोड़ रहा हूँ।" दूसरे ने कहा, "देखो, मुझे अपना पेट भरना है, इसीलिए मैं यह कार्य कर रहा हूँ।" तीसरे ने कहा, "मैं इस पवित्र चर्च के निर्माण में योगदान कर रहा हूँ।" उसके मन में चर्च-निर्माण में भागीदार होने की भावना थी, जो ईश्वर के प्रति लोगो की भक्ति के प्रतीक के रूप में स्थायी रूप से बना रहेगा। कैसी कहते हैं, "हमारे सभी कार्यों का शुभ उद्देश्य विश्व की सुख-समृद्धि होनी चाहिए।" उनकी सलाह है, "तुम्हारे कर्तव्य-बोध, तुम्हारे समर्पित कर्म और तुम्हारी ईमानदारी के फल-स्वरूप ही आर्थिक सफलता आनी चाहिए। अपने सद्गुणों से अपने जीवन को आलोकित करो और दूसरों के लिए एक उदाहरण बन जाओ।"

५. दूसरों को भी अपने पथ पर अग्रसर होने दो। अपनी उन्नति शिखर पर चढ़ने के लिए सीढ़ी के रूप में उनका उपयोग मत करो। जीओ और दूसरों को भी जीने दो। दूसरों को कुछ देने या दान देने की सामर्थ्य अर्जित करो। मृत्यु-पर्यन्त कुछ-न-कुछ रचनात्मक कार्य करते रहो।

६. कोई भी महान् कार्य एक दिन में सम्पन्न नहीं होता। गिर जाने पर व्यक्ति जमीन का ही सहारा लेकर फिर खड़ा हो जाता है। उपलब्ध अवसरों का उपयोग करो। तुम जहाँ भी हो, वहीं से आगे बढ़ते जाओ। ईमानदार बनो। कोई भी ईश्वर को धोखा नहीं दे सकता। कैसी का कहना है कि कर्म का नियम अटल और अपरिहार्य है। हजारों मील लम्बी यात्रा भी एक कदम से आरम्भ होती है। महान् कार्य सम्पन्न करने के लिए अभी – इसी क्षण पहला कदम बढ़ाओ।

पारिवारिक जीवन का रहस्य

कैसी कहते हैं कि कोई भी विवाह शून्य से प्रारम्भ नहीं होता। यह दीर्घकाल पूर्व शुरू हुए धारावाहिक कथा की एक घटना मात्र है। कैसी ने कई जगह बताया है कि विवाह विगत जीवनों के सम्बन्धों की ओर संकेत करता है। विवाह के माध्यम से ही मनुष्य सामंजस्य तथा परिपूर्णता का भाव प्राप्त करता है और आध्यात्मिक पथ पर प्रगति के मार्ग में उसे सीखना आवश्यक है। पुरुष और नारी के स्वभावों में कुछ भेद होता है और विवाह कुछ लोगों के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए आवश्यक हो सकता है।

अपनी स्त्री को पीड़ित करनेवाले पुरुष को एक पत्नी का

जीवन पाकर दु:खभोग के द्वारा प्रेम और सहानुभूति का पाठ सीखना पड़ेगा। अगले जन्मों में लिंग-परिवर्तन का यह भी एक कारण है। एक बाँझ नारी सम्भव है अपने पूर्वजन्म में पुरुष रही हो। कैसी का कहना है कि कई जन्मों तक पुरुष रह चुकी जीवात्मा एक-दो नारी-जन्मों के दौरान गर्भधारण तथा प्रसव की सामर्थ्य नहीं प्राप्त कर सकेगी। वे बताते हैं कि नारी में बाँझपन के कई कारणों में से यह भी कारण है।

पिता-पुत्रों के बीच का सम्बन्ध भी कर्म के नियम से मुक्त नहीं है। खलील जिब्रान अपने 'प्राफेट' ग्रन्थ में लिखते हैं, "तुम्हारे बच्चे वस्तुत: तुम्हारे नहीं हैं। भले ही वे तुम्हारे माध्यम से आए है, पर तुम्हारे लिए नहीं आए हैं। यदि तुम धनुष हो, तो तुम्हारे बच्चे उस धनुष से फेंके गए वाण हैं।"

अत्यन्त आध्यात्मिक पिता के भोगवादी या नास्तिक पुत्र प्राय: ही देखने में आते हैं। अटलांटिस सभ्यता के काल का कोई ज्ञानी व्यक्ति पूर्णत: निरक्षर माता-पिता की सन्तान हो सकता है। पिछले जन्मों का यह सम्बन्ध ही विभिन्न स्वभाव के बच्चों के जन्म के लिए उत्तरदायी है। उदाहरणार्थ –

१. आपसी स्नेह-प्रेम के साथ रह रहे माता और पुत्र अपने पिछले जन्म में भी माता और पुत्र ही थे।

२. वर्तमान जीवन में सौहार्द्रपूर्वक रह रहे पिता और पुत्र अपने पिछले जन्म में सहोदर भाई या बहन थे।

३. पूर्वजन्म में आपस में कोई सम्बन्ध न रखनेवाले दो व्यक्तियों का जन्म इस जीवन में माता और पुत्री के रूप में हुआ था और उनके जीवन में स्नेह-प्रेम का लगाव नहीं था।

४. एक अन्य मामले में एक माता और उससे हमेशा झगड़नेवाली उसकी पुत्री दोनों ही पूर्वजन्मों में बहनें थीं और बहनों के रूप में भी वे झगड़ती रहती थीं।

५. यदि कोई पति-पत्नी एक-दूसरे के प्रति वफादार नहीं रहते और विवाहेतर सम्बन्ध रखते हैं, तो उन्हें परवर्ती जीवन में इसका फल भुगतना पड़ेगा।

एक महिला ने कैसी से पूछा, "अपनी वर्तमान परिस्थिति में क्या मैं विवाह कर सकती हूँ?" कैसी के अपनी सम्मोहक वाणी ने कहा, "यदि उपयुक्त व्यक्ति उपलब्ध हो, तो कर सकती हो। तुम दोनों को सहबद्ध रखने के उद्देश्य पर ही तुम्हारे विवाह की सफलता निर्भर करती है।"

कैसी ने एक अन्य महिला से कहा, "परन्तु घर ही सबसे महान् जीवन-चर्या है। जो लोग घर से दूर भागते हैं, उन्हें इसका फल भोगना होगा। क्योंकि, हर जीव अन्तत: जो कुछ पाने की आशा करता है, यही – एक स्वर्गिक घर ही उसका निकटतम प्रतीक है। अत: अपने घर को एक स्वर्गिक घर की प्रतिछाया बना दो।"

बच्चों के बारे में

कैसी कहते हैं कि माता-पिता को अपने बच्चों के प्रति अत्यधिक कड़ाई नहीं बरतनी चाहिए और न ही उन्हें बहुत ज्यादा सिर पर चढ़ाकर यथेच्छाचार की छूट देनी चाहिए।

एक अति धनाढ्य व्यक्ति बड़ा अहंकारी था। वह अपनी पुत्री से तनिक भी प्रेम नहीं करता था। वह पुत्री एक दुर्घटना में मारी गई और पुन: उसी व्यक्ति की पुत्री के रूप में जन्मी। इस घटना के द्वारा उसका अपरिपक्व प्रेम पूर्णत: विकसित हो सका था। कैसी का कहना है कि आध्यात्मिक विकास के लिए ऐसी घटनाएँ आवश्यक हैं।

कुछ ऐसे मामलों में, जिनमें किसी माता-पिता के बच्चे अन्धे, पंगु या किसी अन्य प्रकार से विकलांग थे, पिछले जन्म में भी वे ही उनके बच्चे थे और उन्होंने उनके साथ दुर्व्यवहार किया था। अपने स्वार्थ के चलते वे अपने ही बच्चों के जीवन में बाधक बन गए थे। अब उन्हें अपने कर्मों का फल भोगना पड़ रहा था।

नवजात शिशुओं को खोनेवाले या मृत शिशु को जन्म देनेवाले माता-पिता के बारे में विचारपूर्वक कैसी ने कहा था, "वह जीवात्मा पैदा हुई, कुछ समय संसार में रहकर चली गई, ताकि माता-पिता दण्ड तथा पश्चात्ताप का अनुभव करके अपने बच्चे की मृत्यु-रूपी दुखाग्नि में पवित्र हो जायें।

संयोग से होनेवाले दुर्भाग्य

सब कुछ कर्म की सीमा के अधीन नहीं है। और यह भी सच नहीं है कि मनुष्य कर्म करने को स्वाधीन नही है। खूँटे में रस्सी से बँधी हुई गाय की भाँति मनुष्य की स्वाधीनता सीमित है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मनुष्य इस स्वाधीनता का उपयोग किस प्रकार करता है। मनुष्य जितना ही अधिक स्वार्थी होगा, उसकी स्वाधीन इच्छा का दायरा उतना ही संकुचित होगा। कैसी यह भी कहते हैं कि जीवन की सभी घटनाएँ कर्म से सम्बन्धित नहीं होतीं। प्रकृति में भी दुर्घटनाएँ हो सकती हैं। यहाँ दो उदाहरण दिए जाते हैं –

१. जन्मजात बहरी और बाद में एक आँख से कानी हुई एक १० वर्षीय बालिका के बारे में कैसी ने कहा कि उसकी विकलांगता उसके कर्म के कारण नही हुई थी। उन्होने कहा, "एक अस्पताल में एक नर्स द्वारा लापरवाही से उसकी आँख में एंटीबायोटिक (जीवाणुरोधी) औषधि डालने से बालिका को कष्ट उठाना पड़ा था।" उन्होंने बताया कि उस नर्स को अपनी लापरवाही का परिणाम भुगतना पड़ेगा।

२. प्रसव के दौरान चिकित्सक ने शिशु का सिर चिमटे से इतनी जोर से दबाया कि बालिका का तांत्रिक-तंत्र क्षतिग्रस्त हो गया और उसे शेष जीवन भर मानसिक विक्षिप्तता का

दुख भोगना पड़ा। परन्तु चिकित्सक की गलती के फलस्वरूप उसके कर्मफल का भार बढ़ गया।

नया दृष्टिकोण

एक प्रसिद्ध अमेरिकी मनोवैज्ञानिक ने कहा था कि यदि हम जीवन के प्रति अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन कर लें, तो हमारा स्वयं का जीवन बदल जाएगा। परन्तु दृष्टिकोण कैसे बदला जाय? यदि हम अपने चतुर्दिक व्याप्त चीजों के सच्चे स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लें, अपने आसपास के लोगों और स्वयं अपने सच्चे स्वभाव को जान लें, तो ऐसा परिवर्तन हो सकता है। यद्यपि आज का विज्ञान हमें भौतिक जगत् की सैकड़ों चीजों का ज्ञान प्रदान करता है, तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि यह हमें जीवन के अभिप्राय व उद्देश्य के बारे में बता सकता है। अल्बर्ट आइंस्टीन के Out of my later years (परवर्ती वर्षों के अनुभव) ग्रन्थ के इस कथन पर विचार कीजिए, "विषयों का ज्ञान जीवन की कुछ जरूरतों की पूर्ति करने के लिए हमें सशक्त उपकरण प्रदान करता है, परन्तु जीवन का चरम सत्य और उसे पाने की व्याकुलता एक अन्य स्रोत से आनी चाहिए।"

जीवन के क्या उद्देश्य हैं? सुख-विलासिता के सारे साधन प्राप्त करना, सर्वोत्तम भोज्य एवं पेय पदार्थों का मजा लेना और बाल-बच्चों का पोषण करना – मात्र ये ही क्या जीवन के उद्देश्य हैं? इससे अधिक क्या और कुछ नहीं है?

मैं कौन हूँ? मैं इस पृथ्वी पर क्यों हूँ? यहाँ से मुझे कहाँ जाना है? क्या मृत्यु के बाद कुछ नहीं रह जाता? क्या हमारे दुख-कष्टों का कोई तात्पर्य है? क्या मेरे तथा अन्य मानव-भाइयों के बीच कोई सम्बन्ध है? क्या मेरे तथा प्रकृति की विभिन्न शक्तियों के बीच कोई सम्बन्ध है? क्या ब्रह्माण्ड की नियामक शक्ति और मेरे बीच कोई सम्बन्ध है? संसार में दृश्यमान वैचित्र्य का क्या अभिप्राय है? यदि हमारा जीवन इन प्रश्नों के उत्तरों द्वारा निर्देशित नहीं होता, तो हम नहीं कह सकते कि हमने जीवन का अर्थ व उद्देश्य समझ लिया है। यद्यपि कैसी के विचार पूर्णत: नवीन नहीं हैं, तथापि वे वैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा जीवन पर नवीन प्रकाश डालते हैं। इस दृष्टिकोण को संक्षेप में इस प्रकार कहा जा सकता है –

१. ब्रह्माण्ड की एक नियामक शक्ति है।

२. प्रत्येक आत्मा दिव्य है।

३. जीवन का एक विशेष अभिप्राय और उद्देश्य है।

४. मृत्यु जीवन का अन्त नहीं है।

५. समग्र मानव-जीवन कर्म और पुनर्जन्म के नियमानुसार संचालित होता है।

६. पवित्र और नि:स्वार्थ प्रेम उस नियम का परिपूरक है।

७. मनुष्य अपनी इच्छाओं की पूर्ति कर सकता है। उसकी इच्छा और संकल्प उसके भाग्य का निर्माण करते हैं। हमारे मन में हमारे भविष्य को रूपायित करने की क्षमता है। हमारे जीवन की समस्याओं के समाधान हमारे ही पास हैं।

८. ईश्वर और अपने बीच के सच्चे और शाश्वत सम्बन्ध को समझ लेना ही जीवन का चरम लक्ष्य है।

९. अपने जीवन के आदर्शों व उद्देश्यों को सूत्रबद्ध करो।

१०. इन आदर्शों और उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ईमानदारी के साथ प्रयास करना चाहिए।

११. हमें बुराई को छोड़कर उत्साही और क्रियाशील होना चाहिए।

१२. हमें धैर्य का पाठ पढ़ना और अपने कर्मों का फल भगवान पर छोड़ देना चाहिए।

१३. हमें किसी भी समस्या से जी चुराने की प्रवृत्ति छोड़ देनी चाहिए। हमें मन-वचन और कर्म से दूसरों के कल्याण में प्रयत्नशील रहना चाहिए।

कैसी की उपरोक्त बातें हमें जीवन जीने के लिए सुस्पष्ट विचार तथा आदर्श प्रदान करती हैं। इससे उत्पन्न दार्शनिक दृष्टिकोण का आधार है – सृष्टि, ईश्वर और मनुष्य के साथ उसके सम्बन्ध की सुव्यवस्थित अवधारणा। सृष्टि, ईश्वर, आत्मा और उनके बीच के सम्बन्ध की सुव्यवस्थित अवधारणा के द्वारा ही सर्वोत्तम रूप से चरित्र का गठन और रूपान्तरण हो सकता है। ब्रह्माण्ड की सर्जनात्मक शक्ति के रूप में ईश्वर की स्वीकृति है। चूँकि गहन अन्तर्दृष्टि तथा एक सार्वभौमिक दृष्टिकोण का विकास करके समस्त विरोधाभासों का समाधान करके केवल प्रतीयमान जगत के स्थान पर परम सत्य को समझने का प्रयास किया जाता है, इसीलिए यह एक धार्मिक दृष्टिकोण है। इस कारण यह एक दार्शनिक दृष्टिकोण भी है। चूँकि यह दैनन्दिन जीवन की चुनौतियों का मुकाबला करने के लिए व्यावहारिक सूत्र प्रदान करता है, इसलिए हम इसे मनोवैज्ञानिक समाधान भी मान सकते हैं।

कैसी के आलेखों में बारम्बार एक ऐसी रहस्यमय शक्ति या सर्जनात्मक शक्ति का उल्लेख आता है, जिसे न साधारण बुद्धि द्वारा समझा जा सकता है और न ही शब्दों द्वारा व्यक्त किया जा सकता है; पर पवित्र मन से उसकी अनुभूति की जा सकती है। रचनात्मक शक्ति या सर्जनात्मक ऊर्जा शब्द का प्रयोग वर्तमान वैज्ञानिक युग की भावना के अनुरूप है।

परम सत्य

आधुनिक युग के बुद्धिजीवी कर्म, सद्गुण, पाप, पुनर्जन्म आदि धारणाओं को अन्धविश्वास के विविध रूप मानते हैं।

केवल हमारे उपेक्षा करते रहने से ही क्या उपरोक्त सत्यों

का अस्तित्व मिट जाएगा। यदि हम दावा करें कि हम सभी लोग समान हैं, सारे भेद काल्पनिक और शोषण के निमित्त बने हैं, तो क्या इतने से ही हम लोगों की रुचियों, क्षमताओं तथा बुद्धि आदि में एकरूपता पैदा कर सकते हैं? कर्मवाद के नियम को अस्वीकार करना मानो उस शुतुरमुर्ग के समान बालू में मुख छिपाना है, जो यह सोचकर आश्वस्त रहता है कि यदि वह शिकारी को नहीं देखता, तो शिकारी भी उसे नहीं देख सकेगा। यदि हम कर्मफल नहीं देख पाते, तो क्या इसका अर्थ यह है कि उसका अस्तित्व ही नहीं है? कैसी से पूछने पर भी बारम्बार यही उत्तर मिला, "यह बिल्कुल स्पष्ट और निश्चित है कि पुनर्जन्म का सिद्धान्त एक अधपका मिथक नहीं, अपितु एक कठोर सत्य है।"

निम्नलिखित तथ्य कैसी द्वारा व्यक्त विचारों का समर्थन करते हैं –

१. किसी व्यक्ति के सैकड़ों मील दूर होने पर भी उसकी विशेषताओं का कैसी द्वारा अपनी सम्मोहन अवस्था में प्रदत्त वर्णन तथा विश्लेषण सत्य थे। यह केवल किसी एक व्यक्ति ही नहीं, अपितु हजारों लोगों के बारे में भी सत्य था।

२. कैसी ने नवजात शिशुओं और प्रौढ़ लोगों की उन व्यावसायिक क्षमताओं और प्रवृत्तियों के बारे में भविष्यवाणियाँ की थी, जिनमें उनके परवर्ती जीवन में सफलता मिल सकती थी। कैसी की सभी भविष्यवाणियाँ अक्षरशः सत्य सिद्ध हुईं।

३. मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों की व्याख्या पूर्व जीवन के अनुभवों द्वारा की गई थी।

४. तेईस वर्षों के दौरान कैसी के कथन में विरोधाभास का कोई उदाहरण नहीं मिला था। वे सभी कथन दार्शनिक दृष्टिकोण से विश्वसनीय रहे और हजारों मामलों के विवरण में सत्य प्रमाणित हुए।

५. कैसी द्वारा दी गई उस समय तक अज्ञात ऐतिहासिक व्याख्याएँ परवर्ती काल में, उन तथ्यों के पुनर्परीक्षण के बाद सत्य प्रमाणित हुईं। कैसी की सम्मोहन अवस्था में उसके द्वारा वर्णित लोगों के नामों और स्थानों का सत्यापन किए जाने पर सम्मोहन अवस्था में कथित विवरणों और वास्तविकता के बीच कोई विरोधाभास नहीं मिला था।

६. जिन लोगों ने रोगों की चिकित्सा, आहार-संयम तथा व्यायाम के विषय में कैसी द्वारा सम्मोहन-अवस्था में दिए गए सलाहों तथा निर्देशों का पालन किया, उनमें कैसी की भविष्यवाणी के अनुरूप ही शारीरिक और मनोवैज्ञानिक सुधार के निश्चित लक्षण दृष्टिगोचर हुए।

७. (कई दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों को सत्य सिद्ध करनेवाले) कैसी के असंख्य कथनों के आधार पर निकाले गए निष्कर्ष तर्कसंगत हैं और मनुष्य के मानसिक जीवन के बारे में अब तक के ज्ञात तथ्यों के साथ उनका कोई विरोधाभास नहीं है। कुछ कथनों के लिए और भी व्यापक शोध की आवश्यकता है।

पुनर्जन्म और कर्मवाद के सिद्धान्तों में हमारे विश्वास के समर्थन में इन बातों को सबल आनुमानिक प्रमाण माना जा सकता है। अपने तीन सुप्रसिद्ध ग्रन्थों में डॉ. जिना सरमिनारा कहते हैं कि सम्मोहन, टेलीविजन, इलेक्ट्रानिक फोटोग्राफी और मनोवैज्ञानिक प्रयोगों के माध्यम से अगले ५० वर्षों में इन तथ्यों का सही ज्ञान पाया जा सकता है। पुनर्जन्म और कर्मवाद के बारे में और भी अधिक जानने हेतु पाठक इस अध्याय के अन्त में सूचीबद्ध ग्रन्थों का अध्ययन करें। इन सिद्धान्तों में विश्वास न करनेवाले लोगों सहित सभी को जिना सरमिनारा कृत 'मेनी मेन्शन्स' पुस्तक पढ़नी चाहिए। कर्म-सिद्धान्त को अविश्वास एवं सन्देह की दृष्टि से देखनेवालों को तो निश्चित रूप से इस पुस्तक का अध्ययन करना चाहिए।

यूनिटेरियन ईसाई सम्प्रदाय के एक पादरी विलियम आर. एल्गर ने पुनर्जन्म और कर्म के सिद्धान्त को निराधार सिद्ध करने के प्रयास में अपने जीवन के कई वर्ष लगा दिए। उनका उद्देश्य इन सिद्धान्तों का विरोध करना था, पर अन्ततः वे इनके प्रबल समर्थक बन गए। पुनर्जन्म के सिद्धान्त का आलोचनात्मक इतिहास (A Critical History of the Doctrine of a Future Life, New York, Green wood Press, 1968) नामक उनकी प्रसिद्ध कृति उच्च कोटि की विद्वत्ता के लिए बड़ी प्रशंसित हुई। उनका कहना है कि जब गहन चिन्तन, व्यापक अध्ययन और बौद्धिक तर्कों के माध्यम से प्राप्त अन्तर्दृष्टि के द्वारा कर्म तथा पुनर्जन्म की खोज कर ली गई है, तो फिर इन्हें अन्धविश्वास कहकर अस्वीकार करना मूर्खता होगी। उनकी ग्रन्थसूची में पाँच हजार सन्दर्भ-ग्रन्थों के नाम हैं। यह ग्रन्थ पहली बार १८६० में प्रकाशित हुआ। १८८६ में इसका व्यापक रूप से संशोधित दसवाँ पुनर्मुद्रण प्रकाशित हुआ। १९६८ में इसे न्यूयार्क से फिर दो खण्डों में मुद्रित किया गया। वे कहते हैं, "मनुष्य के जीवन में पाई जानेवाली नैतिक असमानताओं की जटिलता, ईश्वर के संसार में भेद-वैचित्र्य और मानवता को पीड़ित करनेवाली अनन्त प्रकार की कठिनाइयों के लिए केवल पुनर्जन्म का सिद्धान्त ही आश्चर्यजनक व्याख्या प्रस्तुत करता है।"

सन्दर्भ ग्रन्थ :

१. री-इन्कार्नेशन ऐन ईस्ट वेस्ट एन्थोलाजी, व्हीटन, १९६८
२. री-इन्कार्नेशन स्वामी अभेदानन्द, रामकृष्ण वेदान्त मठ, कलकत्ता
३. प्राब्लम आफ रिबर्थ श्री अरविन्द, अरविन्द आश्रम, पांडिचेरी
४. सर्च फार ब्रीडी मरफी डबल डे, गार्डेन सिटी, न्यूयार्क
५. मेनी मेन्शन्स जिना सरमिनारा, १९५०
६. द वर्ल्ड विदिन जिना सरमिनारा, १९५७

आत्माराम की आत्मकथा (२)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी ने भक्तों के आन्तरिक अनुरोध पर बँगला भाषा में 'आत्माराम की आत्मकथा' नाम से श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों के तथा अपने जीवन के भी कुछ प्रेरक तथा रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे, जिनका डॉ. डी. भट्टाचार्य ने हिन्दी में अनुवाद किया था। इसकी पाण्डुलिपि हमें श्रीरामकृष्ण कुटीर, बीकानेर के सौजन्य से प्राप्त हुई है। इनमें अनेक बहुमूल्य जानकारियों तथा घटनाओं का समावेश होने के कारण 'विवेक-ज्योति' के पाठकों के लाभार्थ हम इनका धारावाहिक प्रकाशन कर रहे है। – सं.)

विषयान्तर होने पर भी यहाँ दो-एक बातों का उल्लेख करना जरूरी है। मेरी जन्मदात्री माँ मुझे छोटा-सा ही छोड़कर परलोकवासी हो गयी थीं। केवल एक भाई को छोड़ बाकी सभी भाई मुझसे बड़े थे। पिताजी ने दूसरी शादी नहीं की।

शायद १९०४ या १९०५ का साल होगा। एक दिन चन्दननगर के मकान के बगीचे की ऊँची दीवार पर से खाने के लिए विलायती आमड़ा (फल) तोड़ते समय गिर गया था। मेरे साथ मुझसे दो साल बड़ा मेरा भतीजा भी था। दोपहर के दो बजे हम वह काम करने गये थे। पेड़ दीवार के पास ही था, इसलिए हम लोग उसी पर चढ़कर फल तोड़ रहे थे। फलों का एक गुच्छा थोड़ी दूरी पर था, अत: भतीजे ने कहा – "तुम उस डाली को खींचो, मैं तोड़ लेता हूँ।" मैंने ज्योंही डाली खींची, वह नरम डाल छूट गई और मैं दीवार के बाहर की तरफ, जहाँ ईंटें पड़ी थीं, उन्हीं पर जा गिरा। तीन घण्टे बेहोश रहा। सिर फट गया था और भौंहों के पास लगभग डेढ़ इंच लम्बा एक काँटा घुस गया था। होश लौटने पर देखा – मेरा सिर माँ की गोद में था और वे रो रही थीं। उनकी साड़ी खून से लाल हो गई थी। उस समय माँ ने मुझे काली-माँ के चरणों में अर्पित कर दिया था और मनौती की थी कि यदि मैं बच गया, तो वे अपना सीना चीरकर खून चढ़ाएँगी।

जब मैं ठीक हुआ, तो मुझे मकान के पास ही स्थित काली-मन्दिर ले जाया गया। पूजा आदि के बाद माँ ने सीना चीरकर खून चढ़ाया था। हाय ! उन माँ की सेवा मैं नहीं कर सका। मेरे मन में उनकी सेवा करने की प्रबल इच्छा हुई थी, परन्तु दुष्ट काल ने मुझे उनकी सेवा से वंचित कर दिया। यदि माँ की मृत्यु न हुई होती, तो शायद मैं संसार-त्याग नहीं कर पाता। उनकी जब मृत्यु हुई, तब मैं टायफायड से पीड़ित होकर आरोग्य-लाभ कर रहा था। पिता और बड़े भाई भी किसी भयानक रोग से पीड़ित होकर थोड़े ठीक हुए थे। यह एक विचित्र घटना थी। जिस दिन पिताजी ने चावल खाये, उसी दिन मैंने भी सब्जी का सूप पीया।

माँ एक-एक-कर तीन लोगों की दिन-रात सेवा करके दुर्बल तथा बीमार हो गई थीं। दो दिनों तक उन्हें पेचिस के साथ जोरों का बुखार चढ़ा रहा। तीसरे दिन सुबह उन्होंने मेरे बड़े भाई को बुलाकर कहा – "आज शाम चार बजे के बाद यदि मुझे पाँच मिनट भी जिन्दा रख सको, तो मैं सौ साल जीऊँगी।" वह शुक्रवार का दिन था। सबने सोचा शायद उन्माद (डेलिरियम) में ऐसा कह रही हैं।

शाम के तीन बजे उन्होंने घर के सब लोगों को निकट बुलाया। मेरी दादी तब जीवित थी। माँ ने उनसे कहा – "मुझे लेने आये हैं। वह देखिए सन्दूक के पास लाल कपड़े पहने बारह साल का एक सुन्दर बालक खड़ा है। वही मुझे लेने आया है। सबको मेरे पास आने को कहिए।" पिताजी और मैं दूसरे कमरे में थे। बीच में नीचे जाने की सीढ़ी थी और उनके दूसरी तरफ माँ का कमरा था। पिताजी आरामकुर्सी पर बैठे थे और मैं खाट पर लेटा हुआ था। सीढ़ी से किसी ने चिल्लाकर कहा – "छोटी बहन ! उसे जीवित नहीं बचा सकी।" मेरी दादी रो पड़ीं। हम सबने वह आवाज सुनी। पिताजी दौड़कर माँ के कमरे में घुस गये। दादी ने कहा – "मेरी बड़ी बहन (जिनकी मृत्यु हो गई थी तथा जो बहुत ही धार्मिक स्वभाव की थीं) कह गई कि बचा नहीं सकी।" (जो लोग प्रेतात्माओं में विश्वास करते है, उन्हें यह विचित्र नहीं लगेगा, दूसरों को अवश्य आश्चर्यजनक बोध होगा) तीन से साढ़े तीन बजे तक मेरी माताजी मूर्छित अवस्था में थी।

मेरे सिवा घर के सभी लोग उनके पास थे। माँ बोलीं – "लखाई (लक्ष्मीनारायण) को मेरे पास लाओ।" दो जन मेरा हाथ पकड़कर उनके पास ले गये। माँ स्नेहपूर्वक मेरी ओर देखती रहीं और दुलारने का प्रयास भी किया। उनके नेत्रों से दो बूँद आँसू टपक पड़े। संकेत से मुझे अपने पास बैठने को कहा। परन्तु मुझमें बैठने की शक्ति भी न थी। किसी तरह मुझे सहारा देकर उनके पास बैठाया गया और उन्होंने धीरे धीरे हाथ उठाकर मेरे सिर पर रखा – आशीर्वाद दिया।

इस प्रकार मुझे अपनी स्नेहमयी माँ का आशीर्वाद मिला। शोक और दुख से मेरी बोलने की शक्ति चली गई थी। आँखों से आँसुओं की तेज धारा बह रही थी। बड़ी मुश्किल से बोला – "माँ।" पर और कुछ नहीं कह सका। मूर्छित-सा हो जाने के कारण मुझे जल्दी दूसरे कमरे में ले जाकर लिटा दिया गया। माताजी चार बजने के दस मिनट पूर्व तक बातें कर रही थीं। इसके बाद उनकी बोली बन्द हो गई।

दादी ने पूछा – "जप (भगवन्नाम का) कर रही हो या नहीं?" माँ ने इशारे से हामी भरी और बीच बीच में वे घड़ी की ओर देख रही थीं। ठीक चार बजे उन्होंने एक गहरी साँस छोड़ी। उनकी आँखें बड़ी हो गईं और प्राण निकल गये। पिताजी कह उठे – "वह गई, देखो माँ (अर्थात् दादी)! आँख से निकल रही है अँगूठे के आकार की दीपशिखा की सी एक ज्योति और रंग बड़ा विचित्र – हरा-पीला-मिश्रित।

इस प्रकार कठोर मृत्यु मेरी स्नेहमयी माँ को छीनकर ले गई। इस घटना पर जितना ही विचार करता हूँ, उतना ही लगता है कि सृष्टि में एक यही कमी है – अर्थात् मृत्यु। तब अपनी अविकसित बुद्धि से सोचता था – दूसरों की मृत्यु होती है, वह तो ठीक है, परन्तु मेरी माँ की मृत्यु क्यों हुई? ईश्वर क्या मेरी माँ को जीवित नहीं रख सकते थे?

इस मृत्यु के साथ एक और अद्भुत घटना जुड़ी हुई है। पिताजी और मैं थोड़े ठीक हुए थे। माँ के शरीर में तब तक बीमारी ने प्रवेश नहीं किया था, पर वे दुर्बल जरूर हो गई थीं। हमारे बगीचे के पीछे की ओर एक ब्राह्मण का लड़का बड़ा बीमार था। उन्नीस-बीस साल का रहा होगा। उसके पिता की मृत्यु हो चुकी थी। विधवा माँ का वह एकमात्र सहारा था। मेरी माँ का मन दयापूर्ण था, अत: वे उस लड़के को देखने तथा कुछ सहायता देने गई। साथ में वे एक बुढ़िया जुलाहिन को भी ले गई थीं, जो हमारे मकान के पास एक झोपड़ी में रहती थी। बगीचे के दक्षिण की ओर एक सड़क थी। ब्राह्मण बालक को देखने के लिये उन्हें झाड़ियाँ पार करके सड़क पर जाना था। ठीक तभी, लाल कपड़े पहने ग्यारह-बारह साल का एक सुन्दर बालक माँ के सामने आकर बोला – "माँ, तुम कहाँ जा रही हो? शुक्रवार को दिन में चार बजे गंगास्नान करने चलोगी? यदि तुमने यह बात किसी और से कही, तो तुम्हारे किसी प्रियजन की मृत्यु होगी और तुम सौ साल जीयोगी।" यह कहकर वह बालक जल्दी से चला गया। उस दिन शायद मंगलवार था।

बात सुनकर माँ और वृद्धा जुलाहिन कुछ देर के लिए किंकर्तव्यविमूढ़ हो गईं। फिर दो-एक बात पूछने की इच्छा होने से माँ ने बुढ़िया को उस बालक को बुला लाने भेजा। बालक जिस ओर गया था, बुढ़िया उसी ओर ढूँढ़ने गई। कई लोगों से उसके बारे में पूछा भी, पर कुछ पता नहीं चला और वह माँ के पास लौट आई। माँ ने उससे कसम खिला ली थी कि वह यह बात किसी को नहीं बतायेगी। इसके बाद माँ ब्राह्मणी को दिलासा देकर लौट आईं। पता नहीं यह घटना सुबह हुई थी या शाम को, पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि घटना सत्य थी, क्योंकि माँ की मृत्यु के बाद नीचे बरामदे में बैठी उस बुढ़िया ने रोते रोते सब कुछ कह दिया।

पिताजी बुढ़िया पर बड़े नाराज हुए और बोले – "पहले क्यों नहीं बताया?" यह बात सुनकर अब यह समझना बाकी नहीं रहा कि क्यों मेरी माँ अस्वस्थ होते हुए भी दवा नहीं ले रही थी। बहुत विनती करने पर कहतीं – "दवा से मेरा रोग ठीक नहीं होगा, खाकर क्या करूँगी?" और क्यों कहा था – "चार बजे बाद पाँच मिनट भी जिन्दा रही, तो सौ साल जीऊँगी।" और उसी पूर्व परिचित बालक को देखकर ही कहा होगा – "वह मुझे लेने आया है।" वह बालक कौन था? फिर बड़े होने के बाद जब सुना – **अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः**[1] और **हरित-पिंगल वर्ण**[2] तब समझ में आया कि उस समय पिताजी ने जो देखा, वह सत्य था। वह जीवात्मा का स्वरूप था। और पुराणों में जो लिखा है कि यमदूत या कोई दूत लेने आते हैं, उस पर भी विश्वास हुआ। वैसे अब भी कभी कभी मन में प्रश्न उठता है कि वह बालक कौन था?

उसके चार-पाँच दिनों के भीतर हम सब काशी के लिए रवाना हुए। माँ ने अपने जीवन-काल में कई बार काशी जाने की इच्छा व्यक्त की थी। काशी जाकर मैं फिर खूब बीमार पड़ा। डॉक्टरों ने मेरे जीवित रहने की आशा ही छोड़ दी। जिस दिन डॉक्टर ने निराश होकर यह बात कही, उसी रात (अब भी मुझे स्पष्ट याद है) खाँसते-खाँसते मेरे गले के पास एक कफ का गोला-सा अटक गया। मैं उसे किसी भी प्रकार मुँह से नहीं निकाल पा रहा था – उँगली से भी नहीं, किसी को बुला भी नहीं पा रहा था। इतने में देखा कि माँ आकर मेरे सिरहाने बैठीं। पहले सिर पर हाथ फेरा और फिर मुँह में उँगली डालकर उस कफ के गोले को निकाल दिया। मैने माँ से वह गोला माँग लिया कि सुबह पिताजी को दिखाऊँगा। माँ मेरे सिर पर हाथ फेरती रहीं और मैं सो गया। सुबह आठ बजे आँख खुली और सर्वप्रथम मैं चारों ओर अपनी माँ को ढूँढ़ने लगा और – 'माँ माँ' – कहकर पुकारने लगा।

पिताजी वहीं थे। सुनकर डरे हुए दौड़कर मेरे निकट आये। अहा! माँ भी क्या अब मुझे प्यार करने कभी सशरीर आयेंगी। मैंने उन्हें रात की पूरी घटना सुनाई, पर वह कफ का गोला कहीं नहीं मिला। डॉक्टर कफ के गोले का बात सुनकर हँसे। चार-पाँच दिनों में मैं स्वस्थ हो गया। माँ यदि उसी समय अपने साथ ले जातीं, तो मैं कितना खुश होता।

❖ **(क्रमशः)** ❖

१. **अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः** – अंगूठे के आकारवाला वह अन्तरात्मा सदा जीवो के हृदय मे स्थित है। (कठ. २/३/१७)॥ **अंगुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिः इव अधूमकः** – अंगूठे के आकारवाला पुरुष बिना धुँए की ज्योति जैसी है। (वही, २/१/१३)॥

२. **पिंगलं हरितं लोहितं च** – कोई कोई उसे पीला, हरा तथा लाल भी कहते है। (बृहदारण्यक उपनिषद् ४/४/९)

नालन्दा की कहानी

राकेश कुमार सिन्हा 'रवि'

पुरा काल से ही ज्ञान तथा शिक्षा के क्षेत्र में बिहार प्रदेश का योगदान अभिनन्दनीय रहा है। यहाँ के शिक्षण-संस्थान किसी समय न केवल स्वदेश, अपितु विदेशों में भी प्रसिद्ध रहे हैं। प्राचीन काल की गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति पर आधारित यहाँ प्रसिद्धि-प्राप्त विश्वविद्यालयों की स्थापना होती रही, जिनमें 'नालन्दा', 'वज्रासन', 'ओदन्तपुरी' तथा 'विक्रमशिला' के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें नालन्दा विश्वविद्यालय की सुख्याति जगजाहिर है।

नालन्दा महाविहार से सम्बोधित नालन्दा विश्वविद्यालय का स्थान प्राचीन भारतीय विश्वविद्यालयों में अग्रगण्य है। जैसे अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा-जगत् में ऑक्सफोर्ड और हिन्दू शिक्षा-जगत् में वाराणसी का नाम है, ठीक वैसी ही स्थिति उस काल में नालन्दा विश्वविद्यालय की थी। पाँचवीं शताब्दी के इस गौरवमय शिक्षण-केन्द्र के अवशेष आज भी वहाँ देखे जा सकते हैं और इसकी गणना विश्व के प्रमुख पुरास्थलों में की जाती है। महान् ऐतिहासिक पुरावशेष के रूप में देश-विदेश में प्रसिद्धि-प्राप्त यह स्थल बिहार की राजधानी पटना से दक्षिणी-पूर्व कोण पर, ८० किलोमीटर दूर और पंच पर्वतों की नगरी राजगीर से ११ किलोमीटर उत्तर-पूर्व की ओर अवस्थित है।

नामकरण

सुप्रसिद्ध इतिहासकार श्री बी. सी. लाहा की राय में नालन्दा महाविहार के दक्षिण में स्थित एक तालाब में नालन्दा नामधारी एक मगर रहता था, इसी कारण इसका नाम नालन्दा पड़ा। चीनी यात्री ह्वेनसांग लिखते हैं कि गौतम बुद्ध अपने पूर्वजन्म में इस क्षेत्र के शासक थे, जिनकी अथक दानी (न अलम् दा) के रूप में चारों ओर प्रसिद्धि थी। इसी कारण इस क्षेत्र को नालन्दा कहा गया। नालन्दा शब्द की व्युत्पत्ति के सन्दर्भ में विदित हो कि **नालं ददाति इति नालन्दा** – जहाँ कमल के नाल पाये जायँ अथवा जो प्रचुर कमल दे सके। इससे भी इस नाम की पुष्टि हो जाती है। कोरिया-निवासी ह्वीलुन की राय में, पूरे जम्बूद्वीप में यह विश्वविद्यालय ही सबसे अधिक शोभायमान था।

स्थापना

नालन्दा विश्वविद्यालय की स्थापना कब हुई – यह एक जटिल ऐतिहासिक अन्वेषण का विषय है। सम्भवत: अधिकाधिक लोगों के कल्याणार्थ तथा छात्रों के सुविधार्थ ही इसकी स्थापना पाटलीपुत्र से राजगृह को जोड़नेवाले राष्ट्रीय राजमार्ग पर की गई। ऐसी मान्यता है कि सम्भवत: पाँचवीं शताब्दी में किसी उत्तरकालीन गुप्त सम्राट् ने इसकी स्थापना कराई थी। तिब्बती इतिहासकार तारानाथ के अनुसार अशोक महान् ने नालन्दा में सारिपुत्र के जन्म-मृत्यु स्थान पर एक स्तूप का निर्माण कराया था। इसलिए कुछेक विद्वान् इसकी स्थापना का श्रेय सम्राट् अशोक को देते हैं, जो उचित नहीं लगता। अधिकांश विद्वानों के मतानुसार गुप्तनरेश कुमारगुप्त (४१३-४५५ ई.) ने इसकी स्थापना कराई। वैसे प्रथम चीनी यात्री फाह्यान द्वारा नालन्दा-भ्रमण (४०५-४११ ई.) के क्रम में विश्वविद्यालय सम्बन्धी बातों का उल्लेख न करना इस बात की ओर संकेत देता है कि इसकी स्थापना (४११-४१२ ई.) के बाद हुई होगी। ह्वेनसांग ने अपने विवरण में नालन्दा महाविहार के निर्माताओं में 'शक्रादित्य' नाम के शासक का उल्लेख किया है, उधर 'कहौम-लेख' में स्कन्दगुप्त (४५५-६७ ई.) की विरुद शक्रादित्य मिलती हैं। इससे लगता है कि विश्वविद्यालय की नीव कुमारगुप्त के समय पड़ गयी थी, जो स्कन्दगुप्त के समय पूर्ण स्थायित्व पर आई और हर्षवर्धन के समय इसकी यथेष्ट उन्नति हुई और पाल वंश आते आते इसकी परम्परा की खुशबू चारों ओर फैल चुकी थी।

वर्तमान

उत्थान एवं पतन प्रकृति का अटूट एवं शाश्वत नियम है और नालन्दा का यह महाविहार भी इससे नहीं बचा। लगभग सात-आठ सौ वर्ष गुमनामी के अँधेरे में रहने के बाद वर्तमान में इसके बारे में प्रथम प्रामाणिक सूचना देने का श्रेय श्री बकानन हैमिल्टन को जाता है, जिन्होंने १८१२ ई. में अपने सर्वेक्षण-क्रम में बड़गाँव से कुछ अवशेष प्राप्त किये। बाद में भारतीय पुराजगत् के पुरोधा अलेक्जेंडर कनिंघम ने इस स्थल को ह्वेनसांग के विवरण से जोड़ने का प्रयास किया। लगभग १८७० में ब्रहले के नेतृत्व में यहाँ खुदाई शुरू हुई, फिर बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक चरण में यहाँ वैज्ञानिक विधि से उत्खनन किये गये, जो लन्दन की रॉयल सोसाइटी और भारत के पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग की अमूल्य उपलब्धि सिद्ध हुई। उल्लेखनीय है कि जब नालन्दा के उत्खनन का कार्य हाथ में लिया गया था, तो यह न सिर्फ भारत, वरन् विश्व के पुरातात्त्विक कार्यों का प्रधान केन्द्र था। बाद में, नब्बे के दशक में भी वहाँ उत्खनन सम्बन्धी कुछ कार्य हुए।

विशद इतिहास

नालन्दा विश्वविद्यालय एक आवासीय स्नातकोत्तर संस्था थी, जिसमें विभिन्न अंचलों तथा विभिन्न देशों के जिज्ञासु तथा ज्ञान-पिपासु विद्यार्थी अध्ययन कर ज्ञान-रूपी रत्न का संग्रह

किया करते थे। नालन्दा के उत्खनन से इसकी अतीत की बहुमूल्य बातें ज्ञात हुई हैं – विद्यमान स्तूप-मन्दिर, मठ तथा विहारों का ज्ञान तो मिला ही है, साथ-ही-साथ उच्च श्रेणी की कलाकृतियों, कांसे की सामग्रियों तथा मूर्तिकला के भी दर्शन हुए। इससे उत्तरी भारत में बौद्ध धर्म के विकास पर बहुत अच्छा प्रकाश पड़ता है। समुद्रगुप्त-कालीन एक ताम्रपत्र को यहाँ का सबसे प्राचीन पुरावशेष माना जाता है। अब तक ११ संघाराम, ४ मन्दिर, १ विशाल चैत्य तथा अनेकानेक छोटे-बड़े स्तूपों के अवशेष प्राप्त हुए हैं। पर इसका सबसे दुखद पहलू यह है कि इतने उत्खनन के बाद भी मुख्य द्वार का पता नहीं चल सका है। आज यहाँ जाने का जो मुख्य द्वार है, कहते हैं कि वह अस्पष्टता के स्थिति के बाद खोला गया है। यद्यपि डॉ. वी. नाथ ने १९७६-७७ में पुनः कुछ कार्य किया, पर पूर्ण सफलता नहीं मिली। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि गुप्तकालीन विहारों के जो अवशेष यहाँ मिले हैं, उन्हीं के आधार तथा आकार-प्लान पर पालकालीन बौद्ध विहार बने।

यहाँ के भवनों पर प्राप्त चिन्हों से ज्ञात होता है कि उसका छह बार पुनर्निर्माण या विस्तार हुआ था। यहाँ के कुछ मठों में तो तीन बार की समृद्धि झलकती हैं। लगभग एक वर्गमील क्षेत्र से अधिक भू-भाग में विस्तृत नालन्दा विश्वविद्यालय के अन्तर्गत ८ महाविद्यालय थे, जिन्हें ८ धर्म-विद्यानुरागियों ने बनवाया था। पालवंश के देवपाल के नालन्दा अभिलेख में उनमें से एक का उल्लेख हुआ है और इन भवनों की भूरि भूरि प्रशंसा की गई है।

महान् यात्री ह्वेनसांग ने लिखा है कि पहले नालन्दा एक आम का बाग था और अनेक शासकों ने मिलकर उसके पास की उच्च भूमि को विश्वविद्यालय का स्वरूप प्रदान किया। विदित हो कि ह्वेनसांग ने न केवल यहाँ का भ्रमण-दर्शन किया था, बल्कि बौद्ध धर्म की शिक्षा हेतु इस विश्वविद्यालय में पाँच वर्षों तक निवास तथा अध्ययन भी किया था। ह्वेनसांग ने नालन्दा महाविहार को उस समय का सबसे बड़ा मठ कहा, जिसे महायान बौद्ध धर्म का 'ऑक्सफोर्ड' कहा जाता है। उस समय वहाँ १०,००० छात्र और २,००० शिक्षक थे। शिक्षा, भोजन तथा आवास की व्यवस्था निःशुल्क थी। वहाँ शिक्षा जगत् में पूर्णता हासिल करने को चीन, कोरिया, जापान, तिब्बत, नेपाल, भूटान, मंगोलिया, श्रीलंका तथा वृहत्तर भारत के विद्यार्थी आते रहते थे।

अध्ययन-अध्यापन के कार्यों में विशेष सुविधा हेतु यहाँ तीन विशाल पुस्तकालयों की उपस्थिति का पता चलता है, जो 'रत्नसागर' 'रत्नोदधि' और 'रत्नरंजक' के नाम से विभूषित थे। दूर दूर से विद्यार्थी तथा शोधछात्र ज्ञान-विज्ञान की साधना करने और इस पुस्तकालय में संग्रहित बहुमूल्य ग्रन्थों का अध्ययन-अवलोकन करने भी आते थे।

ह्वेनसांग के समय अध्ययन-अध्यापन के लिये प्रख्यात नालन्दा विश्वविद्यालय के प्रधान शीलभद्र थे। महान् महायानी दार्शनिक नागार्जुन ने अपनी शिक्षा यहीं से शुरू की थी, जो आगे चलकर वहीं के महाधिकारी बने। चीनी यात्री इत्सिंग (६७१-६९५ ई.) ने भी यहाँ आकर शिक्षा प्राप्त की थी। तर्क-सिद्धान्त के प्रतिपादक विथग, ब्राह्मण-विद्वान् दुई-न्येह, सन्तरक्षित, पथसम्भव, कमलशील, अंग, स्थिरमति, बुद्धकीर्ति, धरमदेव, कुमारजीव, चन्द्रपाल, जिनमित्र, आर्यवेद, बसुबन्धु और ज्ञानचन्द्र के नाम यहाँ के अध्यापकों में सर्वख्यात हैं। शासकों द्वारा १०० गाँवों की आय इस संस्था के व्यय-निर्वाह हेतु दी जाती थी। यहाँ जो मोहरें मिली थीं, उन पर धर्मचक्र का अंकन तथा 'श्री नालन्दा महाविहार गुणगान बुद्ध भिक्षुराम' लिखित हैं। इसके साथ ही 'श्री नालन्दा महाविहार आर्य भिक्षु संघस्य' अंकित मुहर भी मिली है।

ऐसे भी विवरण मिलते हैं कि गुप्त-सम्राट् कुमारगुप्त ने यहाँ ललित कला का एक महाविद्यालय स्थापित कराया था, जबकि महाराज हर्षवर्धन ने उपहार-स्वरूप यहाँ २६ मीटर ऊँची बुद्ध-प्रतिमा लगवाई थी। अपनी यश-कीर्ति बढ़ाने के उद्देश्य से कितने ही शासकों ने इसे समय समय पर संरक्षण प्रदान किया। पालवंश के देवपाल के समय इसकी उन्नति की चरम सीमा परिलक्षित होती है।

हालांकि पश्चिम में 'वल्लभी' तथा दक्षिण में 'कांची' जैसे शिक्षण संस्थानों से इसकी महत्ता कुछ कम अवश्य हुई, पर रही-सही कसर मोहम्मद बख्तियार खिलजी के आक्रमण ने पूरी कर दी। उसने इसके स्वर्णिम आलोक को सदा-सर्वदा के लिये बुझा दिया। अवसान की राह पर जाते इस शिक्षण-संस्थान के अनेक वर्णन प्राप्त हैं, पर सबसे उपयुक्त तारानाथ का वह विवरण प्रतीत होता है, जिसमे उन्होने लिखा है कि पुस्तकालय छह माह तक अनवरत जलता रहा।

हाल के दिनों में बिहार सरकार तथा पर्यटन विभाग द्वारा वहाँ यात्रियों के आकर्षण हेतु कई निर्माण कराये गये हैं। वस्तुतः नालन्दा के खण्डहर, जहाँ से इतिहास बोलता प्रतीत होता है, आज भी कला, विज्ञान तथा पुरातत्त्व के सिवा आम स्वदेशी-विदेशी पर्यटकों की पहली पसन्द हैं। जरूरत है तो इसे 'वैश्विक विरासत' में शामिल किये जाने की।

(योजना, सितम्बर २००३ से साभार)

श्रीरामकृष्ण की बोध-कथाएँ

(कथाओं व दृष्टान्तों के माध्यम से अपनी बाते समझाने की परम्परा वैदिक काल से ही चली आ रही है। श्रीरामकृष्ण भी अपने उपदेशों के दौरान अनेक कथाएँ सुनाते थे। यत्र-तत्र बिखरी इन मूल्यवान कथाओ को हम यहाँ धारावाहिक रूप से प्रस्तुत कर रहे हैं। – सं.)

– १५ –

आगे बढ़ते जाओ

किसी गाँव में एक लकड़हारा निवास करता था। बड़े भोर में ही वह जंगल से जला जाता और लकड़ियाँ काटकर उनके गट्ठर बनाकर शहर में बेच आता। उसी प्रकार बड़ा कठोर परिश्रम करते हुए किसी प्रकार वह अपने परिवार का गुजारा करता था। बड़ी मुश्किल से वह एक ही समय के भोजन की व्यवस्था कर पाता।

उसी जंगल में एक ब्रह्मचारी जी भी कुटिया बनाकर रहते थे। लकड़हारा प्रतिदिन बड़ी श्रद्धापूर्वक उनके उपयोग के लिए लकड़ी के कुछ टुकड़े उनकी कुटिया के सामने रख देता। लकड़हारे की सेवा से ब्रह्मचारी जी बड़े सन्तुष्ट हुए और वह स्थान छोड़ते समय उन्होंने उसे केवल इतना ही उपदेश दिया – "बच्चा, आगे बढ़ जाओ।"

लकड़हारा काफी दिनों तक उनके इस उपदेश का तात्पर्य नहीं समझ सका। वह प्राय: उसे भूल ही चुका था। पर एक दिन सहसा उसके मन में आया कि ब्रह्मचारी जी ने तो मुझे आगे बढ़ जाने को कहा था और मैं तो बस यहीं से लकड़ियाँ काटकर बेच आता हूँ। क्यों न थोड़ा आगे बढ़कर देखूँ।

दूसरे दिन वह जंगल में और भी आगे गया। कुछ दूर जाने पर उसने देखा कि जंगल घना होता जा रहा है और सारा परिवेश मलय-पवन से गमक रहा है। थोड़ा और आगे बढ़ते ही उसे बहुत-से चन्दन के वृक्ष दृष्टिगोचर हुए। लकड़हारा खूशी से फूल उठा। उसने सोचा – अब समझा, इसीलिए तो ब्रह्मचारी जी ने आगे बढ़ जाने को कहा था! उसने मन भर चन्दन की लकड़ियाँ काटीं और शहर में जाकर बेच आया। प्रतिदिन ऐसा ही करते करते थोड़े ही दिनों में उसका अभाव मिट गया और उसके पास बहुत-सा पैसा इकट्ठा भी हो गया। इसी प्रकार काफी दिन बीत गये।

अब एक बार फिर लकड़हारे के मन में आया – "अच्छा, ब्रह्मचारी जी ने तो आगे बढ़ने का निर्देश दिया था। उन्होंने ऐसा तो कहा नहीं था कि चन्दन-वन मिल जाने पर ठहर जाना। मुझे और भी आगे बढ़कर देखना चाहिए।"

अगले दिन लकड़हारा चन्दन-वन को पार करके और भी आगे बढ़ता गया। कुछ दूर जाने पर उसे ताँबे की खान मिली। वह खदान से ताँबा निकालता और नगर में लाकर बेचता। इससे उसकी आय में काफी वृद्धि हो गयी और वह मालामाल हो गया। परन्तु वह वहीं ठहर नहीं गया। और भी आगे बढ़कर देखने पर उसे चाँदी की खान मिली। उसे भी पार करके आगे बढ़ने पर उसे सोने की खान मिली।

पर इतने पर भी वह सन्तुष्ट नहीं हुआ। और भी आगे जाकर उसे हीरे की खान मिली। अब तो उसके भाग्य के क्या कहने! हीरों का खनन करके, उनका बड़े बड़े नगरों में विक्रय करके वह देश का एक बहुत बड़ा रईस बन गया।

धर्म-जीवन में भी हमें थोड़ी-सी सफलता या सिद्धि पाकर वहीं ठहर नहीं जाना चाहिए। कर्म आदिकाण्ड है, कर्म जीवन का उद्देश्य नहीं, साधना करके और भी आगे बढ़ जाना चाहिए। कुछ सिद्धियाँ या अद्भुत दर्शनादि पाकर मारे आनन्द के अपना उद्देश्य भूल मत जाओ। और भी बढ़ने पर ईश्वर की प्राप्ति होगी, उनके दर्शन होंगे। फिर क्रमश: उनके साथ मुलाकात और बातचीत भी होगी।

– १६ –

गो-हत्या का पाप

किसी गाँव में एक ब्राह्मण रहता था। वह पहले किसी साहब के बँगले पर दरवान था। वहाँ नौकरी करते हुए उसने माली के साथ रहकर बागवानी के गुर भी सीख लिए। नौकरी से अवकाश पाने के बाद उसने गाँव में आकर थोड़ी-सी जमीन खरीद ली और उसमें फूलों का उद्यान लगा दिया। बड़े करीने के साथ उसने अनेक प्रकार के पौधे लगाये। अपने हाथ से वह उनकी निराई, गुड़ाई तथा सिंचाई करता। उनको दिन-प्रतिदिन बढ़ते हुए देखकर ब्राह्मण के आनन्द की सीमा नहीं रहती। इस प्रकार बड़े परिश्रमपूर्वक चार-पाँच वर्षों में उसने एक बड़ा ही सुन्दर उद्यान तैयार कर लिया। जो कोई भी उस बगीचे में आता, वहाँ के पेड़-पौधों तथा लता-गुल्मों को देखकर मंत्रमुग्ध हो जाता। लोग ब्राह्मण की प्रशंसा के पुल बाँध देते और वह भी खुशी से फूलकर कुप्पा हो जाता और बड़े उत्साह के साथ बताता कि कैसे उसने इस कला में निपुणता अर्जित की और कहाँ कहाँ से कौन-कौन-से पौधे लाकर उसने उस सुन्दर उद्यान का निर्माण किया है।

ब्राह्मण एक दिन किसी कार्यवश बाहर गया था। लौटकर आने पर वह यह देखकर सन्न रह गया कि बगिया का फाटक खुला हुआ है। बड़ी आशंका के साथ धड़कते हुए

दिल के साथ उसने बगीचे के अन्दर जाकर देखा कि एक गाय ने किसी प्रकार अन्दर घुसकर बगीचे का एक बहुत बड़ा हिस्सा चरकर नष्ट कर दिया है। गाय उस समय भी पेड़ों को खा रही थी। अत्यन्त क्रुद्ध होकर उसने एक डण्डा उठाया और गाय के पीछे दौड़ते हुए उसके सिर पर जोर का प्रहार किया। मर्मस्थल पर चोट लगने के कारण गाय उसी क्षण परलोक सिधार गयी।

अब ब्राह्मण के मन में भय हुआ – "अरे, मैंने तो गाय की हत्या कर डाली। हिन्दू के लिए गोहत्या के समान दूसरा कोई पाप नहीं! ठीक है, पाप तो हुआ सो हुआ, पर अब आशंका यह भी है कि यदि गाँव के लोगों को इस बात का पता चल गया, तो वे लोग मुझे जाति से भी बहिष्कृत कर डालेंगे। उसने सोचा कि गाय की लाश को कहीं छिपा दूँ, ताकि वह लोगों की निगाह से बची रहे। यह सोचकर वह गाय की लाश को घसीटते हुए एक किनारे ले गया और कचरे तथा सूखी पत्तियों के ढेर के नीचे छिपा दिया।

गाय की लाश को छिपाकर लौटते समय उसने देखा कि काला-कलूटा, लाल लाल आँखोंवाला एक भयंकर आकृति का पुरुष हाथ में मोटा सोटा लिए हुए उसी की ओर चला आ रहा है। पास आने पर वह ब्राह्मण की ओर घूर-घूरकर देखने लगा। ब्राह्मण डर गया और काँपते हुए बोला, "क्यों भाई, क्या चाहते हो?" उस भयानक आकृति ने उत्तर दिया, "मैं गोहत्या का पाप हूँ, तुम्हारे सिर पर चढ़ने आया हूँ।"

ब्राह्मण ने थोड़ा-बहुत वेदान्त का अध्ययन किया था। अत: उसे ज्ञात था कि शरीर के विभिन्न अंग तथा इन्द्रियाँ विशेष विशेष देवताओं की शक्ति से शक्तिमान् होकर ही अपने कार्यों का सम्पादन करती हैं। जैसे – सूर्य की शक्ति से नेत्र रूप का दर्शन करता है, पवन की शक्ति से कर्ण शब्द श्रवण करता है, इन्द्र की शक्ति से हाथ कार्य करते हैं, आदि आदि। उस समय उसे इन्हीं बातों का स्मरण हो आया।

उसने पाप-पुरुष से कहा, "पर भाई, गोहत्या मैंने थोड़े ही की है। हाथों के देवता इन्द्र हैं और उन्हीं की शक्ति से मेरे हाथ चले, अत: गोहत्या तो इन्द्र ने की है और तुम्हें जाकर उन्हीं के सिर पर चढ़ना चाहिए।"

पाप-पुरुष को बात जँच गयी, अत: वह ब्राह्मण को छोड़ कर इन्द्र के पास जा पहुँचा। वह इन्द्र से कहने लगा, "मैं गोहत्या का पाप हूँ, आपके सिर पर चढ़ूँगा।" इन्द्र चकित रह गये। बोले, "मैंने भला कब गोहत्या की है? लगता है तुम गलत जगह पर आ गये हो।" तब पाप-पुरुष ने इन्द्र के समक्ष ब्राह्मण का तर्क प्रस्तुत कर दिया। इन्द्र बोले, "ठीक है, तुम थोड़ा-सा ठहर जाओ। मैं उस ब्राह्मण के पास जाता हूँ, तुम भी मेरे पीछे पीछे चलो। मुझे उसके साथ दो बातें कर लेने दो, उसके बाद भले ही मुझको पकड़ लेना।"

इन्द्र और पाप-पुरुष, दोनों ने मानवरूप धारण किया और ब्राह्मण के बगीचे में प्रविष्ट हुए। देखा कि ब्राह्मण पास ही पेड़-पौधों की देखभाल कर रहा है।

उद्यान की शोभा देखकर ब्राह्मण के कान तक पहुँच सके, इस तरह प्रशंसा करते हुए इन्द्र ब्राह्मण के समीप गया और कहा, "अहा, क्या सुन्दर बगीचा है, कितनी अच्छे ढंग से पेड़-पौधे लगाये गये हैं; जहाँ जिसकी आवश्यकता है, ठीक वहीं पर उसे लगाया गया है।" इस प्रकार कहते हुए ब्राह्मण के निकट उपस्थित होकर उसने पूछा, "महाशय, क्या आप बता सकते हैं, यह बगीचा किसका है? इतने सुन्दर पद्धति से किसने इन पेड़-पौधों को लगाया है?"

बगीचे की प्रशंसा सुनकर आनन्द से गद्गद हो ब्राह्मण ने कहा, "महाराज यह मेरा बगीचा है; मैंने ही ये पेड़-पौधे लगाये हैं। आइये, अच्छी तरह देखिये न।" और फिर बगीचे के बारे में नाना प्रकार की बातें करते हुए वह इन्द्र को पूरा बगीचा दिखाने लगा।

बाद में भूल से वह उन्हें वहाँ भी ले गया, जहाँ गाय की लाश पड़ी थी। इन्द्र ने आश्चर्यचकित हो पूछा, "राम, राम, यह गाय कैसी मरी पड़ी है, किसने इसकी हत्या की है?" ब्राह्मण उस समय तक बगीचे की सारी चीजों के बारे में, 'मैंने किया है', 'मैंने किया है' – कहता जा रहा था, इसलिए – 'गोहत्या किसने की है?' – पूछे जाने पर वह घबड़ाकर एकदम चुप हो गया! दुबारा पूछे जाने पर उसने अपना वही पुराना तर्क दुहरा दिया – "इन्द्र ने किया है।"

तब इन्द्र अपने वास्तविक स्वरूप में आकर ब्राह्मण से बोले, "कपटी कहीं का, बगीचे में जो कुछ उत्तम है, उसे तुमने किया है और केवल गोहत्या ही मैंने की है, क्यों? लो अपने इस गोहत्या के पाप को।"

यह कहकर इन्द्र पाप-पुरुष की ओर मुड़कर बोले, "अब देखते क्या हो? फैसला तो हो गया!" देखते-ही-देखते पाप-पुरुष ब्राह्मण के सिर पर सवार हो गया।

संसार में इसी प्रकार लोग अच्छे कार्यों तथा पुण्यों का श्रेय तो स्वयं ले लेते हैं और जब पाप या बुरे कर्म करते हैं तो उसके लिए भगवान या भाग्य अथवा किसी दूसरे को उत्तरदायी ठहराते हैं। संसारी लोगों का यही स्वभाव है। परन्तु जो सदाचारी लोग हैं, उनका स्वभाव इसके ठीक विपरीत होता है। उनसे जो कुछ सत्कर्म होता है, उसे तो वे भगवान की कृपा से हुआ मानते हैं और भूल से जो अनुचित कर्म हो जाते हैं, उनके लिए वे स्वयं को दोषी ठहराते हैं और भगवान से क्षमा माँगते हैं। ऐसे मनोभाव से व्यक्ति की उन्नति का पथ प्रशस्त होता है। ❑❑❑

मुण्डक उपनिषद : एक चिन्तन (३/१)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(कोलकाता के भारतीय संस्कृति संसद में विगत २४ से २६ जून के दौरान हुए तीन व्याख्यानों का अनुलिखन)

वन्दनीया माताओं एवं सुहृद श्रोतागण!

इस वर्ष की मुण्डक उपनिषद् की चर्चा का आज समापन है। इस समापन-सत्र में अभी दो दिनों में दो मित्रों ने मुझसे दो प्रश्न पूछे थे। अभी जब मैं चिरंजीव अरुण के साथ उनके ऑफिस से आ रहा था, तो उनसे जो चर्चा हुई, उसके आधार पर एक मित्र ने मुझसे प्रश्न पूछा – महाराज! यह सुसूक्ष्मं तद् अव्ययं, जो हमलोग पढ़ रहे थे, यह सूक्ष्म क्या है? क्या यह बहुत छोटा है, जिसे हम देख न पाएँ, जान न पाएँ? साधारणत: हमलोगों के व्यवहार में जो बातें आती हैं। हमलोगों को लगता है कि सूक्ष्म माने बहुत छोटा। जिसे हम अपनी आँखों से न देख सकें। किन्तु, यदि माइक्रोस्कोप, सूक्ष्मदर्शी यन्त्र हो तो उस यन्त्र की सहायता से हम उसे देख सकते हैं। वास्तव में यह सूक्ष्म क्या है?

मैंने कहा – उपनिषदों में या शास्त्रों में जहाँ सूक्ष्म की बात आई है, उसका अर्थ यह नहीं है कि वह सूक्ष्मदर्शी यन्त्र से देखा जा सके। उपनिषदों, पुराणों या भागवत में जब सूक्ष्म की बात आती है, तब उसका तात्पर्य है – जिसे इन्द्रियों से न जाना जा सके। आप माइक्रोस्कोप के द्वारा आँख की शक्ति को ही तो बढ़ाते हैं। जो आँख से देख सकते हैं, उसे ही माइक्रोस्कोप से देखेंगे। किन्तु, यह ऐसा सूक्ष्म नहीं है। यदि यह ऐसा नहीं है, तो इसका अस्तित्व कैसे है? जो न तो इन आँखों से दिखता है, और न सूक्ष्मदर्शी यन्त्र द्वारा आखों की शक्ति के बढ़ने पर ही दिखता है। तो इसे हम कैसे जानें? यदि आप थोड़ा विचार करें, तो तथ्य स्पष्ट हो जाएगा। तब हम देखेंगे कि हमें ज्ञान की आवश्यकता क्यों है? हमारी भावनाएँ काम-क्रोध आदि विकार या हमारे मन में जो दूसरे प्रेम आदि भाव हैं, इन भावों को भी हम आँखों से नहीं देख सकते। इनको आप किन आँखों से देखेंगे? किन यन्त्रों से देखेंगे? कोई उपाय नहीं। आपके प्रति मेरे मन में द्वेष है या प्रेम? इन माताओं के प्रति मेरे मन में श्रद्धा का भाव है। ठाकुर ने कहा कि ये जगत्-जननी-स्वरूपा हैं। वह भाव मेरे मन में है या अन्य भाव, इसको आप कैसे देख सकते हैं? मैं स्वयं नहीं देख सकता हूँ। अदृश्यं है, जिसको देखा नहीं जा सकता। मेरे भीतर क्रोध, प्रेम, करुणा, दया के जो भाव हैं, इसका आप अनुमान नहीं कर सकते। मैं न उन भावों को देख सकता हूँ और न अनुमान कर सकता हूँ। किन्तु, उनका अनुभव कर सकता हूँ। मेरे मन में प्रेम है, तो प्रेम का अनुभव करता हूँ, क्रोध है, तो क्रोध का अनुभव करता हूँ। ये अज्ञात हैं, पर अज्ञेय नहीं हैं। धर्म और आध्यात्मिकता के क्षेत्र में भी यह बात समझ लेनी चाहिए। इसका मैं अनुभव करता हूँ, इस ज्ञान को शास्त्र की भाषा में अपरोक्ष ज्ञान कहते हैं। मेरे मन में इन बहनों के प्रति श्रद्धा के भाव जागे। पूर्वाश्रम में जैसी मेरी माताएँ-बहनें थीं, वैसी ही ये लोग भी हैं। इसका मुझे अनुभव हो रहा है। इस अनुभव को अपरोक्ष ज्ञान कहते हैं। इसी प्रकार जिस दिन उपनिषद् की सत्ता का बोध होगा। वह आँख से नहीं दिखेगा, उसका अनुमान भी नहीं होगा, उसका अपरोक्ष ज्ञान होगा। वह अपरोक्ष ज्ञान हमारे जीवन में आमूल परिवर्तन लाएगा। कैसे आमूल परिवर्तन आता है? जिस प्रेम को हम देख नहीं सकते, जिसका अनुमान नहीं कर सकते। किसी मित्र के प्रति, किसी परिवार के प्रति, आप सब भक्तों के प्रति, मेरे मन में जो स्नेह है, आप लोगों की मुझ पर जो कृपा है, मेरे प्रति आपकी जो शुभकामना या स्नेह है, इस स्नेह के कारण हमारे व्यवहार में परिवर्तन आया है, यद्यपि इसे हम इन आँखों से देख नहीं पाते। कोई एक एकदम अपरिचित व्यक्ति है, किन्तु, जब उससे घनिष्ठता हो जाती है, तब वह हमारे परिवार के सदस्य के समान हो जाता है। कैसे हुआ? कुछ दिखता नहीं है, पर बिना देखे ही यह जो अपरोक्ष अनुभूति हुई। ये सभी उच्च आदर्श को लेकर चलने वाले भगवान के भक्त हैं। उच्च जीवन बिताने वाले लोग हैं। हम उनके परिव्रार के अन्तर्भुक्त हैं। क्या कारण है कि मैं आपको अपने परिवार का सदस्य न समझूँ? कोई कारण नहीं है। पर यदि उस अपरोक्ष की अनुभूति हमें हो जाय, तो जो निकटता आपको अपने परिवार के लोगों से है, वह निकटता मुझमें भी आ सकती है। इसी प्रकार किसी दिन साधना के बल से यह अपरोक्ष अनुभूति हो जाय कि मेरे भीतर जो चैतन्य सत्ता है, वही चैतन्य सत्ता आपके भीतर भी है, तो सारा विश्व घर के समान हो जाता है – **विश्वं भवति एक नीड़म्**। सारा विश्व एक मकान, एक कमरे, एक घर के समान हो जाता है। तब कोई दूसरा नहीं रहता। **वसुधा एव कुटुम्बकम्** – सारी वसुधा, पृथ्वी एक परिवार हो जाती है। यह कब होगा? जब हमें यह अपरोक्ष अनुभूति होगी, तभी होगा। उपनिषद् या धर्मशास्त्रों का अध्ययन करते समय हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि जो चित् सत्ता, चैतन्य सत्ता या शक्ति है, वही सभी विद्याओं का आधार है। **ब्रह्मविद्या सर्वविद्यां प्रतिष्ठाम्** – वह ब्रह्म ही सभी विद्याओं का आधार

है। कैसे? जिस प्रकार संसार, विश्व-ब्रह्माण्ड की सभी चीजें आकाश के भीतर ही हैं, आकाश के बाहर कुछ नहीं। उसी प्रकार सबका आधार ब्रह्म ही है। वह ब्रह्म सूक्ष्म है। सूक्ष्म माने जो आँखों से न देखा जा सके, यन्त्र के द्वारा भी न देखा जा सके। वह तत्त्व अतीन्द्रिय है। हमें ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान होता है, कर्मेन्द्रियों से ज्ञान नहीं होता। आँख से देखते हैं, कान से सुनते हैं, त्वचा से स्पर्श करते हैं, जिह्वा से स्वाद लेते हैं, ये ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। इन ज्ञानेन्द्रियों से होने वाला ज्ञान सूक्ष्म नहीं है। जो सूक्ष्म आत्मा, ब्रह्म या ईश्वर है, जब मन सर्वथा शुद्ध हो जाएगा, तब उस शुद्ध मन के द्वारा उस सूक्ष्म तत्त्व का अनुभव होगा। **चेतसा वेदितव्यः** – मन के द्वारा उसे जानना चाहिए। चेतना की किस अवस्था में उस तत्त्व का अनुभव होता है? कठोपनिषद् में यमराज कहते हैं –

यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ।।२/३/१०

जब हमारी सारी इन्द्रियाँ – ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ अपनी अन्तिम सीमा पर पहुँच जायँ, मन भी जहाँ न जा सके, बुद्धि की चेष्टा भी जहाँ समाप्त हो जाय, किन्तु चेतना जागृत रहे, उस अवस्था में इस तत्त्व का अनुभव होता है। ऐसा जो सूक्ष्म तत्त्व है उसकी अनुभूति इसी परम अवस्था में होती है। वह परमगति क्या है? इसी पराविद्या की उपलब्धि ही वह परमगति है। यह शब्द ज्ञान नहीं है। पराविद्या के शब्द का ज्ञान तो अभी हम सबको हो गया है। अभी अरुण जी बोल रहे थे कि महाराज! मैंने गीताप्रेस वाला सारा मुण्डक उपनिषद् पढ़ा। ६५ श्लोक तो हमलोग ६५ मिनट में नहीं २० मिनट में पढ़ लेंगे। ऋषि कहते हैं कि जब इन्द्रियाँ हार जाती हैं, मन हार जाता है, तब मन बुद्धि से कहता है कि तुम देखो, बुद्धि कहती है कि मेरी भी चेष्टा समाप्त हो गयी। बुद्धि की भी चेष्टा समाप्त होने के बाद मनुष्य पूर्ण जागृत एवं पूर्ण चैतन्य रहता है। निद्रा में भी ऐसा होता है। इन्द्रियाँ सो जाती हैं। हम कुछ काम नहीं करते। मन भी सो जाता है। मन एकदम चंचल रहे, तो नींद नहीं आती। जब बहुत गहन, तीव्र निद्रा रहती है, तब बुद्धि भी सोती रहती है। बुद्धि भी उसमें सोयी हुई है, हम भी सोए हुए होते हैं। इसमें क्या अन्तर है? जागृत निद्रा का नाम ही समाधि है। इसी अवस्था में पराविद्या उपलब्ध होती है। आचार्य बताते हैं कि निद्रा में हमको होश नहीं रहता है। उपनिषद् का अध्ययन करने वाले योगी महापुरुषगण पूर्ण जागृति अवस्था में निद्रा की सी स्थिति में पहुँच जाते हैं। जहाँ इन्द्रियाँ सुप्त हो जाती हैं। मन सुप्त हो जात है। बुद्धि भी कोई चेष्टा नहीं करती है। उस समय हृदय में जो ज्ञान स्फुरित होता है। जैसे मैं अपने हृदय के प्रेम को नहीं देख पाता, किन्तु उसका अनुभव करता हूँ। जैसे मुझे प्रेम की अनुभूति हुई वैसे ही जब अपनी इन्द्रियों को, मन को वश में करने पर जब चित्त शुद्ध हो जाता है, तब उस चित्तशुद्ध की अवस्था में इस ज्ञान का अनुभव होता है, जो अपरोक्ष है। किसी की अपेक्षा नहीं है। अपरोक्ष ज्ञान की अनुभूति से व्यक्ति का सम्पूर्ण चरित्र बदल जाता है। पूरा जीवन बदल जाता है। दृष्टि बदल जाती है। सृष्टि बदल जाती है। ऐसा यह सूक्ष्म तत्त्व है।

पहले दिन के प्रवचन के बाद एक दूसरे मित्र पूछ रहे थे – स्वामीजी! यह प्रकृति जड़ है। इस जड़ प्रकृति में ऐसा सब काम होता है। भगवान सब जगह हैं। आपने कहा कि वे चैतन्य हैं। वैसे सांख्य दर्शन यह मानता है कि प्रकृति भी अनादि अनन्त है। उसमें ईश्वर की बात नहीं, उसमें पुरुष या आत्मा की बात है। सांख्य दर्शन को भी निरीश्वर दर्शन कहा जाता है। वे लोग ईश्वर को नहीं मानते। किन्तु, वे लोग पुरुष को मानते हैं। पुरुष भी अनादि अनन्त है। प्रकृति भी अनादि अनन्त है। वेदान्त कहता है, ऐसा नहीं हो सकता। दो अनादि चीजें नहीं हो सकतीं। अनादि अनन्त ब्रह्म एक ही है। वही प्रकृति के रूप में प्रतिभासित होता है। भगवान श्रीरामकृष्णदेव ने कहा – '**अद्वैत ज्ञान आँचले बेंधे जा इच्छा ताई करो** – अद्वैत ज्ञान को आँचल में बाँधकर जो साधना करनी है करो।' इसका अर्थ यह नहीं कि उच्छृंखलता करो। अद्वैत समझ लिया तो जिस पथ में जाओ, वहीं पहुँच जाओगे। प्रकृति जड़ है। इसमें कोई चेतना नहीं है। यह सब काम करती है। गीता (९/१०) में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं – **मया अध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्** – मेरी उपस्थिति मात्र से, सांख्य कहता है कि पुरुष की उपस्थिति मात्र से प्रकृति समस्त कार्यो को करती है। सांख्य दर्शन में एक उदाहरण है – जैसे गाय के थन में दूध होता है। ऐसे गाय पेन्हाती नहीं है। तब ग्वाला गाय के बछड़े को सामने ले जाता है। यदि बछड़ा मर गया हो, तो भूसा भर कर बनाया हुआ बछड़ा, उस गाय के पास ले जाता है। बछड़े को देखते ही गाय के थन में दूध आ जाता है। इसी प्रकार आत्मा या पुरुष की उपस्थिति मात्र से प्रकृति काम करती है। वेदान्त या अद्वैत वेदान्त कह लें, कहता है कि ऐसी बात नहीं है। इस प्रकृति में जो कुछ तुम देखते हो, इस जड़ प्रकृति के पीछे एक चैतन्य तत्त्व भी है। इसे जान लेने पर उपनिषद् समझने में बड़ी सहायता होगी। यह जड़ प्रकृति जो हमें दिखती है, यह चैतन्य नही है। हम सामान्य लोगों के पास उस चैतन्य को देखने का अभी कोई यंत्र नहीं है। जिसे वह यंत्र प्राप्त हो जाता है, वह चैतन्य का साक्षात्कार कर लेता है, उसे ब्रह्मज्ञान हो जाता है। वह यन्त्र क्या है? वह यन्त्र है शुद्धचित्त। जिसे यह यंत्र (शुद्धचित्त) प्राप्त हो जाता है, उसे जड़ नहीं दिखता। ऋषि कहते हैं –

दिव्यः हि अमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो हि अजः।
अप्राणो हि अमनाः शुभ्रः हि अक्षरात् परतः परः।।

(मु. २/१/२)

– अर्थात् निश्चय ही वह पूर्ण पुरुष समस्त जगत् के बाहर-भीतर सर्वत्र व्याप्त है। जन्म आदि विकारो से रहित, प्राण और मन से रहित होने के कारण सर्वथा शुद्ध है। इसलिए अविनाशी जीवात्मा से अत्यन्त श्रेष्ठ है।

श्रीरामकृष्णदेव से पूछा गया कि यह जगत् मिथ्या है, ऐसा लोग कहते हैं। तब उन्होंने कहा – जब तक ब्रह्मज्ञान नहीं हुआ है, तब तक मिथ्या है। एक नई बात, ब्रह्मज्ञान हो जाने के बाद कुछ भी मिथ्या नहीं है। क्योंकि वह एक ही है, वह पूर्ण सत्य है। श्रीरामकृष्णदेव भक्तों से कहते हैं – एक दिन माँ ने मुझे दिखा दिया कि मंदिर, प्रतिमा, पूजा के पात्र, चौखट, दरवाजे सब कुछ चैतन्य हैं। वेदान्त की मान्यता है कि यह प्रकृति जो आज हमें जड़ दिख रही है, वह सब कुछ चैतन्य है। यह देह जड़ है, किन्तु, इसके भीतर एक चैतन्य तत्त्व है। किन्तु, जब सिद्धि मिल जाएगी, तब हमें सर्वत्र उस चैतन्य सत्ता का अनुभव होने लगेगा। ऋषि कहते हैं – **सर्वं खलु इदं ब्रह्म** – यह जो कुछ दिखता है, वह केवल ब्रह्म ही है। उससे भिन्न कुछ भी नहीं है। आज हम जिसे जड़ समझते हैं, वह इसलिए समझते हैं, क्योंकि हम उसे जड़-दृष्टि से देख रहे हैं। हमारे पास चैतन्य को देखने की दृष्टि नहीं है। लेकिन यह जड़ता, ऐसी जड़ता नहीं है। हमारी अपनी जड़ता के कारण प्रकृति हमें जड़ प्रतीत होती है। जब व्यक्ति का चित्त पूर्ण शुद्ध हो जाता है, तब जड़ता समाप्त हो जाती है। तब उसको सब कुछ चैतन्य दिखता है। यहाँ एक और प्रश्न आता है – जड़ अगर नहीं है, सब कुछ चैतन्य ही है, तो चैतन्य का अनुभव हमें क्यों नहीं होता। हमारे जीवन में उस चैतन्य के अनुभव में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि हम जिस अवस्था में हैं, हमारा मन स्थूल है। हम यह सोचते हैं, जैसे पुस्तक को मैं देख रहा हूँ। मैं अलग हूँ, पुस्तक अलग है। इसी प्रकार ब्रह्म या परमात्मा कुछ हमसे भिन्न दिखेगा क्या? क्या ऐसा कुछ होगा? इसको समझना आवश्यक है, क्योंकि इससे हमारा आधार दृढ़ होगा। हमारी चेतना का विकास होगा। इस उपनिषद् की पुस्तक को मैं देख रहा हूँ। एक तथ्य है यह उपनिषद् की पुस्तक। दूसरा तथ्य है इस पुस्तक को देखने वाला स्वामी सत्यरूपानन्द।

पुस्तक और पुस्तक का द्रष्टा सत्यरूपानन्द, इन दोनों को देखने वाला भी एक अन्य तत्त्व है। परमानन्द जी बैठे हैं और पुस्तक को देख रहे हैं। इन दोनों को जानने वाला एक तत्त्व उनके भीतर है, जिसे वे नहीं देख रहे हैं। वह तत्त्व हमेशा द्रष्टा है। वह कभी दृश्य नहीं हो सकता। दृश्य होते ही वह नहीं देख पाएगा। अच्छा दूसरा उदाहरण लीजिए। यहाँ पर चित्र बना है। चक्र बना है। मैं चक्र को देखता हूँ। चक्र-दृश्य और मैं उसको देखने वाला उसका द्रष्टा हूँ, इसके पीछे इन दोनों को देखने वाला, जो द्रष्टा है, उसको आप कैसे देखेंगे? किन्तु, जैसे हम अपने हृदय के प्रेम को नहीं देख सकते, उसका अनुमान नहीं कर सकते, पर अनुभव कर सकते हैं और तब समझते हैं कि हमारे मन में प्रेम, राग या द्वेष है। तब आप उसको नकार नहीं सकते हैं कि हमको नहीं दिखता है, इसलिए वह नहीं है। ठीक उसी प्रकार वेदान्त के आचार्य कहते हैं, धैर्य रखो, जो द्रष्टा है, वही तुम्हारा स्वरूप है।

कल या परसों हमलोगों ने ध्यान का अभ्याय किया। मैं बैठकर मन को शान्त करने का प्रयास कर रहा हूँ। आप भी बैठकर मन को शान्त करने का अभ्यास कर रहे हैं। इसको देखने वाला, जो द्रष्टा है, वह नहीं कर रहा है। वह यह सब देख रहा है कि आप बैठकर मन को शान्त कर रहे हैं। अभ्यास करते करते, उसकी अपरोक्ष अनुभूति हो जाएगी कि 'मैं तो वही हूँ'। न कोई ध्यान करने वाला है, न कोई ध्यान कराने वाला है। मैं ही 'मैं हूँ'। यह थोड़ा सा कठिन लगता है, पर सत्य यही है।

अद्वैत क्या है? इसके जानने से क्या लाभ है? इसमें जो बात कही गई है, उसी के अनुसार थोड़ा सा हम देख लें, उसी का यह विस्तार है। कल इस पर थोड़ी सी चर्चा हुई थी। इसमें (मुण्डक-१/२/८) एक श्लोक है –

अविद्यायां अन्तरे वर्तमाना
स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः।
जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढाः
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥

– अविद्या के भीतर स्थित होकर अपने को बुद्धिमान, विद्वान् मानने वाले मूर्ख लोग बार बार आघात सहन करते हुए भटकते रहते हैं। जैसे अन्धे के द्वारा चलाए जाने वाले अंधे इधर उधर भटकते और कष्ट भोगते रहते हैं।

❖ (क्रमशः) ❖

माँ को मैंने जैसा देखा

स्वामी गौरीश्वरानन्द

माँ श्री सारदा देवी दैवी मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। हमारे लिए बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

सातवीं कक्षा में पढ़ते समय मैंने माँ का पहली बार दर्शन किया। यह १९१५ ई. की बात है। सच बात यह है कि मुझे थोड़ी हताशा ही हुई थी। मेरी कल्पना में माँ की छवि कुछ इस प्रकार थी – वे एक सुन्दर सजे हुए सिंहासन पर विराजमान होंगी और दोनों ओर सेविकाएँ चामर डुला रही होंगी। लेकिन देखा – माँ फूस के छप्परवाले एक छोटे-से मिट्टी के घर में रहती हैं। और यह भी देखा कि वे अपने हाथ में झाड़ू लिये आँगन बुहारती हैं। तब अति क्षुब्ध होकर जिनके साथ मैं गया था, उन पूजनीय ज्ञान-दा (स्वामी ज्ञानानन्द) और पूजनीय गोपेश-दा (स्वामी सारदेशानन्द) के पास जाकर मैंने कहा – "इन छोटे-मोटे कार्यों में माँ की सहायता करनेवाला क्या कोई नहीं है?" उन्होंने उत्तर दिया – "आते-जाते रहो, सब कुछ जान जाओगे।" हम लोगों को देखकर माँ ने कहा – "बेटा, थोड़ा ठहरो। मैं ये काम निपटाकर, हाथ धोकर आती हूँ, तब प्रणाम करना।"

हम लोग प्रतीक्षा करने लगे। माँ झाड़ू रखने के बाद हाथ धोकर बिस्तर पर बैठीं। हम लोगों ने एक-एक-कर प्रणाम किया। प्रणाम करते समय मैंने देखा कि उनके बिस्तर पर एक बच्ची सोयी है। यह मुझे अच्छा नहीं लगा। मैंने अपने साथियों से पूछा – "यह लड़की कौन है? माँ के बिस्तर पर क्यों सोयी है? नीचे फर्श पर बिस्तर बिछाकर नहीं सो सकती क्या?" पूजनीय ज्ञान-दा ने जल्दी से मुझे मना करते हुए कहा – "चुप रहो, बाद में सब समझ जाओगे।" वह बच्ची माँ की स्नेहपात्री भतीजी राधू थी।

उन दोनों के प्रणाम करने के बाद मेरे प्रणाम करते ही माँ ने पूछा – "यह लड़का कौन है? उन लोगों ने उत्तर दिया – "यह लड़का बदनगंज स्कूल में पढ़ता है।" यह सुनकर माँ बोलीं – "प्रबोध का छात्र है?" मेरे स्कूल के प्रधान शिक्षक का नाम प्रबोधचन्द्र चट्टोपाध्याय था। मैं मन-ही-मन सोचने लगा कि माँ हमारे प्रधानाध्यापक को कैसे जानती हैं? फिर सोचा कि वे इस अंचल के विद्वान्-बुद्धिमान व्यक्ति हैं, इस कारण माँ उन्हें पहचानती होंगी। बाद में पता चला कि प्रधान शिक्षक महाशय ने अपनी पत्नी के साथ उनसे दीक्षा ली है।

माँ का दर्शन करने के बाद जब मैं घर लौटने लगा, तो उन्होंने स्नेहपूर्वक कहा – "बेटा, फिर आना।" उसी दिन से हर शनिवार को जयरामबाटी आकर माँ का दर्शन करने को प्राण आकुल हो उठते। अतः हर शनिवार को मैं एक धोती, गमछा तथा सोमवार के पढ़ने की किताबें लेकर स्कूल जाता और छुट्टी होते ही जयरामबाटी चला जाता। इस प्रकार थोड़े ही दिन आने-जाने से मैं माँ का खूब परिचित हो गया।

माँ की लज्जाशीलता असाधारण थी। यूं तो स्वामीजी (विवेकानन्द), महाराज (ब्रह्मानन्द), शरत् महाराज (सारदानन्द), महापुरुष महाराज (शिवानन्द) आदि सभी को माँ 'बेटा' कहकर पुकारती, पर उनके सामने घूंघट काढ़े रहतीं और घूंघट के भीतर से धीमे स्वर में बोलतीं। कई बार योगीन-माँ या गोलाप-माँ उसे थोड़े जोर के स्वर में दुहरातीं। शरत् महाराज माँ को प्रणाम करने के बाद बरामदे में आकर शिकायत के स्वर में कहते – "मानो मैं उनका श्वसुर हूँ।" आयु की तुलना में मेरा कद थोड़ा कम था, अतः माँ मेरे सामने घुंघट नहीं निकालती थी। और इस कारण मुझे माँ को अच्छी तरह देखने का सौभाग्य मिला था। इसके सिवा माँ के पैरों में वात था, इसलिए माँ के पैरो में औषधियुक्त तेल मलने का सौभाग्य मुझे मिला था। तेल लगाते समय मैंने देखा कि माँ के पैरों के तलवे बड़े कोमल और हल्की गुलाबी आभा लिए हुए थे, यद्यपि वे कामारपुकुर या जयरामबाटी से दक्षिणेश्वर और दक्षिणेश्वर से कामारपुकुर या जयरामबाटी पैदल ही जाया करती थीं। और पूरे जीवन उन्होंने कभी जूते या चप्पल नहीं पहने। एक दिन तेल से मालिश करते समय मेरे मन में आया कि माँ के पैरों का वात यदि मेरे पैरों में आ जाय तो अच्छा रहे, माँ तो अच्छी रहेंगी। यही सोचकर माँ के पाँव पर हाथ रखकर अपने उसी हाथ की कुहनी को अपने घुटने से छुलाते ही माँ ने मेरी ठुड्डी पर हाथ रखकर उसे चूम लिया और बोलीं – "छी! छी! यह सब क्या सोच रहे हो? तुम लोग सही-सलामत रहो। तुम्हें ठाकुर के कितने काम करने हैं। मै तो वृद्ध हो गयी हूँ, भला कितने दिन जीवित रहूँगी?"

मैं माँ के साथ बैठकर सब्जियाँ काटता। उनके चूल्हे में आग जला देता। आटा, मैदा सानकर रोटियाँ, पूरियाँ बेल देता। माँ के साथ बैठकर पान लगाता। फूल, तुलसी, बेलपत्र, दुर्वादल आदि लाकर, चन्दन घिसकर उनकी पूजा की थाली सजा देता। फल रहते तो उन्हें काट देता। उस समय जयरामबाटी में खरीदने के लिए फल-फूल नहीं मिलते थे। फल के नाम पर कुम्हड़ा, मूल के नाम पर आलू ही मिलता था और एक छोटी-सी दुकान मात्र थी – इतनी छोटी दुकान कि एक बार जब माँ ने मुझे ढाई पाव पोस्ता खरीदने भेजा। तो पोस्ता माँगने पर दुकानदार ने कहा – "अगर मैं तुम्हीं को ढाई पाव पोस्ता दे दूँगा, तो फिर फुटकर में क्या बेचूँगा? मेरे दुकान में केवल ढाई पाव ही पोस्ता है।" अब तो बड़ी बड़ी दुकानें हो गयी हैं। माँ मुझे एक ही साथ पान के दो बीड़े देतीं और महिलाओं से कहतीं – "राममय को पान खाते देखना मुझे बड़ा अच्छा लगता है; काले लड़के के दोनों होठ खूब लाल हो जाते हैं – देखकर ऐसा लगता है मानो उपले में आग लगी हो।"

मैं देखता कि बहुत-से लोग आकर माँ से दीक्षा ले जाते हैं। कुछ दिनो बाद सोचा कि मैं भी माँ से दीक्षा लूँगा। पर मन में संशय उठा – मैं तो नाटा-सा, सोलह-सत्रह साल का लड़का हूँ, कौन जाने, माँ दीक्षा देने को राजी होंगी या नहीं! माँ की एक वृद्धा शिष्या माँ की सेवा के लिए जयरामबाटी में रहती थीं, उनका लड़का उस समय वकील था, मैंने उसके साथ विचार-विमर्श किया। मैंने कहा – "मेरी तो दीक्षा लेने की इच्छा है। आप तो यहाँ हमेशा माँ के पास रहते हैं। आपको क्या लगता है कि माँ मुझे दीक्षा देंगी?" वे बोले – "भाई, मुझे तो लगता है कि वे तुम्हें ही दीक्षा देंगी, क्योंकि यदि तुम किसी कारणवश एक भी शनिवार की शाम को नहीं आते, तो वे बीस बार तुम्हें याद करती हैं। कहती हैं, "राममय, क्यों नहीं आया? लड़के को कहीं बुखार तो नहीं आ गयी?" फिर थोड़ी देर बाद ही कहती हैं – "विद्वान्-बुद्धिमान लड़का है। लगता है कि परीक्षा समीप है, शायद पढ़ाई-लिखाई में ज्यादा रम गया है, इसलिए माँ को भूल गया है – आदि आदि। इस प्रकार बार बार तुम्हें याद करती हैं। जब तुम्हें इतना प्यार करती हैं, तो तुम्हें दीक्षा भी अवश्य देंगी। फिर भी अगर वे कहें कि थोड़े और बड़े होकर लेना, तो वह अलग बात है।" मैं तो बड़ा हो ही गया था। नाटा होने के कारण मैं छोटा दिखता था।

अस्तु, माँ से कहते ही वे बड़ी प्रसन्न हुईं। बोलीं – "अच्छा, तुम दीक्षा लोगे! तो आसन बिछाकर ठाकुर को प्रणाम करके बैठो।" माँ के आसन के अलावा और अन्य दो गलीचे के आसन थे। जब कभी पति-पत्नी दीक्षा लेते, तो दोनो आसन बिछा देता। इन्हीं आसनों में से एक को माँ के सामने बिछाकर ठाकुर और माँ को प्रणाम करके मैं बैठ गया। माँ कोशे में से कुशी में जल लेकर मेरे शरीर पर छिड़कते हुए बोलीं – "पिछले जन्मों के सारे पाप नष्ट हो जायँ। इस जन्म में जाने-अनजाने किये हुए सारे पाप नष्ट हो जायँ।" ऐसा कहकर माँ ने मेरा शरीर शुद्ध कर दिया। बाद में एक देवता का नाम लेते हुए वे बोलीं – "ये ही तुम्हारे इष्ट हैं?" शायद मैं ठीक से समझ नहीं सका हूँ – यह सोचकर वे दुबारा बोलीं – "इन्हीं के प्रति तो तुम सर्वाधिक श्रद्धा-भक्ति करते हो, प्रेम करते हो? तुम्हें इन्हीं का मंत्र दूँगी।" तब मैंने कहा – "माँ, आपने ठीक ही पकड़ा है, मेरी उन पर ही सर्वाधिक श्रद्धा-भक्ति थी, लेकिन अब ठाकुर की पुस्तकें पढ़कर सब देवी-देवता एक ही प्रतीत होते हैं। अच्छा, यदि मैं कोई विशेष मंत्र चाहूँ, तो क्या आप मुझे देंगी?" माँ बोलीं – कहो। तब मैने बताया। माँ बोलीं – इस मंत्र को पाकर तुम्हें खुशी होगी? मैंने कहा – "हाँ।" तब उन्होंने वह बीजमंत्र सुना दिया और दिखा दिया कि किस तरह १०८ बार जप करना होगा।

दो चार बातें और उपदेश देकर बोलीं – "बेटा, गुरु और इष्ट को एक जानना, उनमें कोई भेदबुद्धि मत रखना।" उस समय मैं नहीं जानता था कि दीक्षा के बाद गुरु-दक्षिणा दी जाती है। फिर उस दिन मेरी जेब में एक पैसा तक न था। घर से भोजन करके स्कूल ज़ाता और स्कूल से जयरामबाटी जाता – पैदल ही जाता, अत: पैसों की जरूरत भी नहीं पड़ती। लेकिन माँ ने दक्षिणा के विषय में कुछ कहा नहीं। दीक्षा के बाद जब मैं माँ के दोनों चरणों पर हाथ रखकर प्रणाम कर रहा था, (क्योंकि पहले चरणों में सिर रखकर प्रणाम करने पर तो उन्होंने कहा था कि पैरों पर हाथ रखकर प्रणाम करने से ही होगा) तब माँ बोलीं – "आज पाँवों में सिर रखकर प्रणाम किया जाता है, क्योंकि इतने दिन जो 'माँ' थीं, आज वे 'गुरु' हो गयीं।" उन्होंने स्वयं ही सिखा दिया और मैंने भी उनके चरणों में सिर रखकर प्रणाम किया। माँ ने दोनों हाथ मेरे सिर पर रखकर आशीर्वाद दिया और बोलीं – "चल बेटा, चलकर थोड़ा-सा खा ले। देर हो गयी है, भूख लगी होगी।"

मैं ज्योंही बाहर निकला, त्योंही ज्ञान-दा (स्वामी ज्ञानानन्द) ने मुझे बुलाकर पूछा – "कुछ दक्षिणा दिया?" मैंने कहा – "नहीं, कैसे दूँ? मेरी जेब में तो एक पैसा भी नहीं है।" तब ज्ञान-दा ने अपनी जेब से रूमाल निकालकर रुपये, अधेले, चवन्नी, दुअन्नी आदि जो भी था, सब मेरे हाथ में दे दिये। कुल मिलाकर करीब ढाई या तीन रुपये रहे होंगे। वह लेकर मैं ज्योंही दरवाजे के पास आया, त्योंही माँ ने कहा – "क्या है बेटा?" तब मैंने वे रुपये माँ को दिखाये। उन्होंने पूछा – "कहाँ मिले?" मैंने कहा – "ज्ञान-दा ने दिये हैं।" तब वे

बोलीं – "अच्छा दे दे।" यह कहकर माँ ने उन्हें ले लिये। मैंने दुबारा उनके चरणों पर सिर रखकर प्रणाम किया, तो उन्होंने सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद देते हुए कहा – "चल, अब चलकर थोड़ा-सा खा ले।" इतना कहकर माँ ने एक छोटी-सी थाली में मुरमुरे लिये और मुझे भी दिये। माँ और मैं पास पास बैठकर खाने लगे। बीच बीच में माँ अपनी थाली से मुरमुरे निकालकर मेरी थाली में डालकर कहतीं – "खा ले, बेटा, खा ले, मैं अब बूढ़ी हो गयी हूँ, दाँत हिल रहे हैं, चबा नहीं पाती।" इस प्रकार बिना माँगे ही माँ ने मुझे प्रसाद दे दिया। आजकल भक्तगण दीक्षा लेने के बाद गुरु का प्रसाद लेकर जलपान करते हैं। और मेरे न माँगने पर भी करुणामयी माँ ने स्वयं ही मुझे अपना प्रसाद दिया।

बचपन से ही मेरी बागवानी में अत्यधिक रुचि थी। आजकल जैसे मैं गुलाब के एक ही पौधे की विभिन्न डालियों में लाल, सफेद, पीला, गुलाबी आदि कई रंगों के फूल खिला सकता हूँ, वैसा उन दिनों मुझे नहीं आता था। परन्तु उन दिनों जयरामबाटी में किसी किसी दिन माँ को पूजा के लिए एक भी फूल नहीं मिलता था। केवल तुलसीपत्र, दुर्वा, बेलपत्र और चन्दन देकर माँ कहतीं – "ठाकुर, आज तो एक भी फूल नहीं मिला, इन्हीं से सन्तुष्ट होओ।" माँ के घर के समीप पूण्यपुकुर के किनारे मैंने कुछ जुही, कमल, गेंदा, गुलमेंहदी, गुड़हल, टगर आदि फूलों के पौधे लगाये थे। ये सब फूल पाकर माँ कितनी प्रसन्न होतीं!

एक दिन देखा दोपहर में विश्राम के बाद माँ जुही के पौधे की गुड़ाई कर रही थीं। "आपको यह करने की जरूरत नहीं, मैं ही कर दूँगा" – कहकर मेरे द्वारा उनके हाथ से खुरपी ले लेने पर वे बोलीं – "तुम तो सब करते ही हो, मुझे जुही के फूल बड़े पसन्द है। उसमें फूल आने का समय हो रहा है, इसलिए पानी डालने की जगह बना रही थी।" कन्हेर के पौधे जब पहला फूल खिला, तो माँ ने पूजा के लिए भी किसी को उसे तोड़ने नहीं दिया। बोलीं – "राममय आकर देखेगा कि उसके पौधे में कितने फूल खिले हैं। जब वह अपने हाथों से ये फूल चुनकर देगा, तभी ठाकुर को दूँगी।" कैसा अपार था उनका स्नेह! शनिवार को आकर मैंने ज्योंही माँ को प्रणाम किया, त्योंही वे मेरा हाथ पकड़कर उस पौधे के पास ले गयीं और बोलीं –"देख, तेरे पौधे में कितने सुन्दर फूल खिले हैं और फिर कैसी सुगन्ध है!" उन्होंने मेरे हाथों में फूलों की डलिया थमा दी। मेरे फूल चुनने पर उन्होंने उनसे ठाकुर की पूजा की।

एक दिन मैंने स्वयं ही कागजी नीबू की एक कलम तैयार की और उनके पास ले गया। उसमें ७-८ फल लगे हुए थे। देखकर माँ बहुत खुश हुई और सबसे कहने लगीं – "देखते हो न, लड़के में कितनी बुद्धि है! ऐसा कलम बनाकर लाया है कि उसमें अभी से फल लगने शुरू हो गये हैं।" एक दिन मैंने फलों के साथ आँवले के पेड़ की एक बड़ी डाल तोड़कर माँ को दिया। इस पर वे नाराज हुईं और फलवाले और विशेषकर आँवले की फलसमेत डाल तोड़ने से मना किया। आँवले का वह पेड़ आमोदर नदी के किनारे था। इसी आँवले के पेड़ के नीचे पूजनीय शरत् महाराज, योगीन-माँ, गोलाप-माँ ध्यान किया करते थे। पूजनीय शरत् महाराज वहाँ गीता-पाठ भी करते। माँ ने और भी कहा – "आँवले के पेड़ के नीचे तैंतीस करोड़ देवताओं का निवास होता है। इसके नीचे बैठकर ध्यान-जप करने से बहुत फल होता है।" इसके बाद वे उस डाल से पत्तियाँ तोड़कर पूजा के लिए रखने को कहते हुए बोलीं – "बेलपत्र के समान ही इसकी पत्तियों का भी पूजा के लिए उपयोग होता है।"

एक अन्य दिन ज्ञान महाराज और मैं पुण्यपुकुर तालाब के उत्तरी किनारे के बगीचे में कुछ केले के पेड़ लगा रहे थे। हम लोगों ने सुबह से ही कार्य आरम्भ किया था। विलम्ब हो जाने पर माँ तालाब के किनारे खड़ी होकर हम लोगों को जलपान के लिए बुलाने लगीं। हम लोगों ने – "आ रहे हैं" कहकर उत्तर दिया। कुछ देर बाद माँ व्याकुल होकर दुबारा पुकारने लगीं। बोलीं – "जलपान करके काम पूरा करना।" मैं व्यग्र हो उठा, लेकिन ज्ञान-दा ने आने नहीं दिया। तीसरी बार जब ज्ञान-दा को छोड़कर माँ ने केवल मुझे पुकारा, तब कुदाल फेंककर मैं भाग निकला। ज्ञान-दा के – "अब केवल थोड़ा-सा ही बचा है" और "एक साथ ही चलेंगे" – कहने पर भी मैं नहीं ठहरा। माँ बड़ी प्रसन्न हुईं और बोलीं – "ज्ञान पूर्व बंगाल का है। वे लोग बहुत जिद्दी होते हैं। किसी की भी बात नहीं सुनते। तू हाथ-मुँह धोकर खाने बैठ।" मेरे खाने बैठते ही नलिनी दीदी ने आकर, बगीचे के जगह को अशुद्ध बताकर, मुझे बिना-नहाये खाना से मना करते हुए कहा – "छी! छी! बिना नहाये तुम्हें खाना कैसे रुचेगा? माँ उन्हें डाँटते हुए बोलीं – "तू चुप रह! ये लड़के हैं। सदा पवित्र! इन्हें कोई दोष नहीं होगा। तेरा मन अशुद्ध है, इसलिए सदा छूत छूत करके मरती रहती है।" माँ के कहने पर मैंने खा लिया। माँ भी बहुत खुश हुई।

❖ (क्रमशः) ❖

कर्मवाद और पुनर्जन्म (१)

स्वामी आत्मानन्द

भारत की वसुन्धरा में उत्पन्न सकल दार्शनिक मतवादों की अपनी विशिष्टता रही है, जो विश्व के अन्य भू-भागों में पैदा हुये मतवादों में नहीं दिखाई पड़ती। यह विशिष्टता है – इन समस्त भारतीय मतवादों का 'कर्म और पुनर्जन्म' के सिद्धान्त पर विश्वास करना; यहाँ हम लोकायत या चार्वाक दर्शन को 'दर्शन' की श्रेणी में नहीं ले रहे हैं। विश्व के प्राचीनतम साहित्य ऋग्वेद में हमें जन्म-परम्परा का उल्लेख मिलता है। इससे प्रतीत होता है कि जबसे दार्शनिक चिन्तन की किरण भारत के हृदयाकाश में विकिरित हुई है, तब से कर्म और पुनर्जन्म का सिद्धान्त सुदृढ़ रूप से गृहीत और पोषित हुआ है। पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर विश्वास करनेवाले इन समस्त भारतीय मतवादों को 'हिन्दू धर्म' के व्यापक अभिधेय के अन्तर्गत रखा जा सकता है। चाहें वे सनातनी हों या जैन, बौद्ध हों या सिक्ख, वेदान्ती हों या शाक्त, शैव हों या गाणपत्य, आर्यसमाजी हों या ब्राह्म। बाहर के धर्म, जैसे – ईसाई और इस्लाम, पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करते। पर पुनर्जन्म का सिद्धान्त युक्तियुक्त है। प्रस्तुत प्रबन्ध में प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाणों के बल पर हम यही सिद्ध करने का प्रयास करेंगे। यह सिद्धान्त संसार को हिन्दू धर्म की विशेष देन है। जीवन की जिन समस्याओं का उचित समाधान बाहर के धर्म नहीं दे पाते, उनका हल, पुनर्जन्म और कर्म के सिद्धान्त के बल पर, हिन्दू धर्म पूरे तर्क के साथ प्रस्तुत करता है। और इन तर्कों में पूरी वैज्ञानिकता है, जैसा कि हम आगे के विश्लेषण में अनुभव करेंगे।

पूर्वजन्म का सिद्धान्त इस तर्क पर खड़ा है कि मात्र एक जन्म इस जगत् में व्याप्त वैषम्य की मीमांसा नहीं कर सकता। यदि हम इसी जीवन को सब कुछ मान लें, तो मनुष्य-मनुष्य के बीच जो भेद दिखाई देता है, उसकी मीमांसा कैसे हो? कोई बुरा होता है, कोई भला; कोई कुरूप, तो कोई सुन्दर; कोई रोगी, तो कोई स्वस्थ; कोई धनी, तो कोई निर्धन। इस विषमता का क्या कारण है? यदि इसके उत्तर में कहा जाय कि ईश्वर ने जैसा चाहा, वैसा बनाया, तो यह कोई वैज्ञानिक उत्तर नहीं हुआ। इससे तो ईश्वर में पक्षपात और विषम दृष्टि का दोष लगेगा। यदि हम ईश्वर को विश्व का सर्जन मानते हैं और साथ ही उसे न्यायी, करुणामय, आदि सम्बोधनों से युक्त करते हैं, तो ऐसा ईश्वर कुछ पर अन्याय कैसे कर सकता है? यह तो कोई समाधान ही न हुआ। इसी जीवन को सब कुछ मान लेने से यही दोष उपस्थित होता है। हिन्दू धर्म को छोड़कर, विश्व के अन्य धर्म इस समस्या का जो उत्तर देते हैं, उसके पीछे न तो युक्ति का बल है, न अनुभूति का। विज्ञान के पास भी इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं है।

पुनर्जन्म का सिद्धान्त इस धारणा से प्रेरित होता है कि जीवन-प्रवाह का एक विशिष्ट लक्ष्य है और उस लक्ष्य को पाने के लिये ही जीवों को इस जीवन-क्रम में से जाना पड़ता है। अन्य धर्म जीवन के लक्ष्य के सम्बन्ध में जिस धारणा का पोषण करते हैं, वह मनुष्य की बुद्धि-वृत्ति को सन्तोष नहीं दे सकती। एक मात्र हिन्दू धर्म ही मानव-जीवन के प्रयोजन की बुद्धिसम्मत व्याख्या प्रस्तुत करता है और कहता है कि जीवन-क्रम का एक निर्दिष्ट लक्ष्य है। पहले विज्ञान भी, भौतिकवादियों के समान, इस जीवन को आकस्मिक मानता था – उसके पीछे किसी लक्ष्य या उद्देश्य को देख नही पाता था। पर आज वह किसी भी घटना को आकस्मिक नहीं कहता। यदि कोई बात 'आकस्मिक' दिखाई देती है, तो केवल इसीलिये कि हम उसके पीछे छिपे नियम को जानने में असमर्थ हैं। आज विज्ञान के कोष में 'आकस्मिकता' का मात्र इतना ही अर्थ है। इसी प्रकार, आज का विज्ञान जीवन को निरुद्देश्य नहीं मानता। जब चार्ल्स डार्विन ने क्रम-विकास के सिद्धान्त की घोषणा की थी, तब जीव विज्ञान के क्षेत्र में हलचल मच गई थी। उन्होंने अपनी इस Theory of Evolution यानी क्रम-विकास के सिद्धान्त द्वारा जीवन के क्रम को समझाने का प्रयास किया। उन्होंने इस जीवन-प्रवाह का सूक्ष्म अध्ययन किया और इसमें एक क्रम देखा। उन्होंने घोषणा की कि विश्व में जितनी योनियाँ (species) दिखाई देती हैं, वे सब-की-सब एक क्रम से बँधी हैं, और इस क्रम को उन्होंने 'विकास का क्रम' (Process of Evolution) कहकर पुकारा। अत्यन्त स्थूल तौर पर यदि उनके इस क्रमविकास के सिद्धान्त की चर्चा करें, तो वह कुछ ऐसा होगा –

(१) जीवन-प्रवाह का प्रारम्भ 'अमीबा' (जीवाणु कोष) से होता है।

(२) यह जीवन-प्रवाह विभिन्न योनियों का विकास करता हुआ मनुष्य-योनि तक आता है।

(३) जीवन-प्रवाह के एक योनि से दूसरी योनि में जाने के दो कारण प्रतीत होते हैं – एक तो Servival of the fittest (बलिष्ठ-अतिजीविता अर्थात् जो सबसे योग्य हो, वह बचे) और दूसरा Natural Selection (प्राकृतिक निर्वाचन) या

Sexual Selection (यौन निर्वाचन)।

हम यहाँ पर aberrations (नियमभंग) का उल्लेख छोड़ दें, तब भी कई प्रश्न खड़े होते हैं। कल्पना करें कि हम डार्विन से प्रश्न पूछ रहे हैं और वे हमें उत्तर दे रहे हैं –

प्रश्न – डार्विन साहब, आपने कहा कि जीवन-प्रवाह विभिन्न योनियों का विकास करता हुआ मनुष्य-योनि तक आता है, तो क्या वह वहीं रुक जाता है अथवा उससे भी आगे जाता है?

डार्विन – इसका कोई स्पष्ट उत्तर मेरे पास नहीं है।

प्रश्न – अच्छा, क्या आप इस जीवन-प्रवाह का कोई लक्ष्य मानते हैं, जिसकी प्राप्ति के लिये यह सारा विकास-क्रम कार्य कर रहा हो?

डार्विन – ऐसा तो नहीं प्रतीत होता।

प्रश्न – चेतना Consciousness के सम्बन्ध में आपकी क्या धारणा है?

डार्विन – विकास के क्रम में कहीं पर कुछ ऐसी परिस्थितियाँ आती हैं, जब अचानक चेतना उत्पन्न हो जाती है। वह आकस्मिक है।

प्रश्न – क्या आपका मनुष्य के पुनर्जन्म में विश्वास है?

डार्विन – नहीं।

प्रश्न – जो महामानव दिखायी देते हैं, जैसे बुद्ध, ईसा आदि, वे तो सामान्य मनुष्यों से बहुत ऊपर उठे दिखाई देते हैं। क्या आपको अपने सिद्धान्त की दृष्टि से इस अन्तर का कोई कारण दिखाई देता है?

डार्विन – नहीं।

प्रश्न – मनुष्य-मनुष्य में जो भेद और विषमता दिखाई देती है, उसे आप कैसे समझायेंगे?

डार्विन – इसका भी कोई स्पष्ट और समाधानकारक उत्तर मेरे पास नहीं है।

प्रश्न – यदि आप ऐसा मानते हैं कि सभी योनियाँ विकास-क्रम से बँधी हुई हैं, तो फिर मनुष्य भी विकास के नियमों और सिद्धान्तों से बँधा होगा। इसका तात्पर्य यह हुआ कि मनुष्य प्रकृति के द्वारा बद्ध है और अपनी मर्जी से कुछ नहीं कर सकता?

डार्विन – हाँ, सभी योनियाँ विकास-क्रम के हाथों यन्त्र के समान हैं; प्रकृति के हाथों कठपुतली-जैसी हैं। मनुष्य इसका अपवाद नहीं है।

प्रश्न – एक अन्तिम प्रश्न और। अमीबा से मनुष्य तक आप कितनी योनियाँ (species) मानते हैं?

डार्विन – यह मानने का सवाल नहीं, यह तो खोज का सवाल है। अभी तो मैं खोज में लगा ही हूँ। आप यह प्रश्न मेरे बाद में आने वाले जीवशास्त्रियों से कीजिये। वे अधिक सही उत्तर दे सकेंगे।

पर आज का यह बीसवीं शताब्दी का विज्ञान भी इनमें से बहुतेरे प्रश्नों का समाधानकारक उत्तर नहीं दे पाता। फिर, ऊपर में डार्विन की दृष्टि से जो उत्तर दिये गये हैं, उनमें से अधिकांश विज्ञान की तर्कणाओं की दृष्टि से गलत हैं, जैसा कि अभी हम देखेंगे। किन्तु 'कर्मवाद' और 'पुनर्जन्मवाद' ऐसे दो सशक्त हिन्दू सिद्धान्त हैं, जो उपर्युक्त सभी प्रश्नों का समाधानकारक उत्तर प्रदान करते हैं। भले ही विज्ञान की प्रयोगशाला में इन दोनों सिद्धान्तों पर प्रयोग नहीं हुआ है, तथापि पुनर्जन्म की अनेक घटनाएँ अतीत और भविष्य के सघन अन्धकारमय परदे में एक छेद अवश्य कर देती हैं। इन दोनों सिद्धान्तों को पुष्ट करने वाले तर्क अकाट्य हैं। चूँकि ये समस्त प्रश्न एक दूसरे से सम्बन्धित हैं, इसलिये इनको हम एक साथ ही चर्चा के लिये ले लेंगे।

हिन्दू दर्शन जीवन-प्रवाह को अनादि और अनन्त मानता है। जीवन एक प्रवहमान नदी के समान है। हम एक स्थान पर खड़े होकर किसी नदी को देखते हैं। कितना भाग देख पाते हैं? सम्भव है – सौ गज की लम्बाई मात्र को। उसके न पहले का भाग दिखाई देता है, न बाद का। पर इसका मतलब यह नहीं कि नदी मात्र सौ गज लम्बी है। जहाँ से नदी का दिखना शुरु होता है, उसके पहले भी वही नदी है, पर आँखे उस भाग को देख नहीं पातीं। इसी प्रकार जहाँ तक नदी दिखाई दे रही है, उसके आगे भी वही नदी है, पर आँखें अपनी दृष्टिशक्ति की सीमा के कारण आगे के भाग को नहीं देख पातीं। यह जीवन भी इसी प्रकार सतत प्रवहमान एक सरिता है। जिस दिन हम पैदा हुए, उसके पहले के भाग को और जिस दिन हम मृत्यु की गोद में अदृश्य हो जाते हैं, उसके बाद के भाग को हम नहीं देख पाते। पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि वर्तमान जीवन के पहले यह जीवन नही था, या वर्तमान जीवन के बाद यह जीवन नहीं रहेगा। दृष्टिशक्ति की परिच्छिन्नता के कारण हम अतीत और आगामी जीवनों को नहीं देख पाते। दृष्टिशक्ति की यह परिच्छिन्नता देह और मन के परदे के कारण उपजती है। जो इस परदे को थोड़ा उठा लेने में समर्थ हैं, वे जीवन की नित्यता को देख पाते हैं। उनके लिये काल के तीनों भेद समाप्त हो जाते हैं। किसी किसी के जीवन में यह परदा अपने आप कुछ समय के लिये अचानक हट जाता है और वे अतीत के जीवन को देखने में समर्थ हो जाते हैं। हमने ऐसी कई घटनाएँ सुनी और पढ़ी हैं, जहाँ एक छोटा-सा बालक या बालिका अपने पूर्वजन्म की बातों का स्मरण करने लगती है और जाँच-पड़ताल से उसकी बातें सत्य सिद्ध होती हैं। यदि जीवन में नित्यता न होती, तो उस बालक या बालिका की बाते कैसे

सत्य होतीं? आजकल जो लोग 'पैरा-साइकालॉजी' (परा-मनोविज्ञान) के क्षेत्र में विशेष रुचि रखते हैं, वे ऐसी घटनाओं को extra-sensory perception (इन्द्रियातिरिक्त दर्शन) के नाम से पुकारते हैं। पर कोई नामकरण किसी बात का स्पष्टीकरण नहीं होता। यदि यही मान लें कि ऐसी घटना extra-sensory perception (इन्द्रियातिरिक्त दर्शन) का परिणाम है, तो प्रश्न उठता है कि उसी बालक या बालिका विशेष के साथ यह घटना क्यों घटी? फिर, यही घटना दुबारा किसी अन्य के साथ फिर से क्यों नहीं घटती? इन प्रश्नों के कोई समाधान-कारक उत्तर नहीं हैं। अत: बाध्य होकर यह स्वीकार करना पड़ता है कि जीवन नित्य है।

और चूँकि हिन्दू दर्शन जीवन-प्रवाह को नित्य मानता है, इसलिये वह कहता है कि इस जीवन-प्रवाह की गति वृत्ताकार होती है। एक वृत्त के सम्बन्ध में यह नहीं बताया जा सकता कि उसका प्रारम्भ कहाँ से हुआ और अन्त कहाँ हुआ? जीवविज्ञान प्रकारान्तर से इसी की ओर संकेत करता है। जब विकासवादी कहता है कि विकास का प्रवाह 'अमीबा' से शुरु होकर सीधे मनुष्य तक चला आया और इसी प्रकार चलता रहेगा, तो विज्ञान की दृष्टि से इस कथन में एक दोष है। विज्ञान कहता है कि सरल रेखा में कोई गति नहीं होती। यह विज्ञान का सिद्धान्त है कि सरल रेखा को यदि अनन्त दूर तक फैला दिया जाय, तो वह सरल रेखा नहीं रह जाती, बल्कि वृत्त का रूप ले लेती है। यह तो प्रकारान्तर से हिन्दू विकासक्रम के सिद्धान्त को ही पुष्ट करने का संकेत हुआ।

दूसरी बात जो युक्ति हमारे समक्ष रखती है, वह यह कि 'विकास' कहने से ही 'संकोच' का बोध होता है। यदि हम evolution (क्रमविकास) को स्वीकार करते हैं, तो हमें involution (क्रमसंकोच) को भी स्वीकार करना पड़ेगा। जब हम कहते हैं कि 'अमीबा' से जीवन-प्रवाह क्रम-विकसित होता है, तो यह भी मानना पड़ेगा कि 'अमीबा' में 'कुछ' क्रम-संकुचित हुआ है, जिसका विकास विकासवादी के अनुसार होता है। पर जीवशास्त्री यह नही बता पाते कि यह 'कुछ' क्या है, जो 'अमीबा' में आकर संकुचित हो गया है। बिना संकोच की धारणा के विकास की धारणा ही नहीं बन सकती। विकास को तो स्वीकारना पर संकोच को न स्वीकारना अवैज्ञानिक बात है

तीसरी बात जो विज्ञा॰ कहता है, वह यह है कि शून्य से किसी चीज की उत्पत्ति नहीं हो सकती। जब जीव-शास्त्री कहता है कि चेतना (Consciousness) अचानक ही, विकास के क्रम में कुछ परिस्थितियों के उपस्थित हो जाने पर, आकस्मिक रूप से उत्पन्न हो जाती है, तो विज्ञान की दृष्टि से यह भी गलत है। यदि चेतना पहले से जीवन-क्रम में विद्यमान न हो, तो वह किसी भी प्रकार से उत्पन्न नहीं हो सकती। विकास-क्रम में बाद में कहीं जाकर चेतना भले ही प्रकट होती हो, पर वह प्रारम्भ से ही विद्यमान थी। वह अप्रकट थी, जिसे कुछ परिस्थितियों ने मिलकर प्रकट कर दिया। मतलब यह कि परिस्थितियाँ हठात् कोई नया तत्त्व, कोई मौलिक तत्त्व बनाकर पैदा नहीं कर सकतीं, वे केवल छिपे को, निहित को, अप्रकट को प्रकट कर सकती हैं। चेतना जीवन का मौलिक तत्त्व है। अत: वह प्रारम्भ से ही विद्यमान है।

आज का जीवशास्त्र कहता है कि 'अमीबा' से लेकर 'मनुष्य' तक लगभग १२८ लाख योनियाँ हैं। हमारे यहाँ साधारण तौर पर यह माना गया कि जीव ८४ लाख योनियों में भटककर तब कहीं मनुष्य योनि पाता है। जिन्होंने विज्ञान की दो-एक पुस्तकें पढ़ ली हैं, वे ८४ लाख योनियों की बात को निहायत मजाक समझते हैं। ऐसे लोगों को विज्ञान के आधुनिकतम अनुसन्धानों का अध्ययन करना चाहिये। दो-एक विज्ञान की किताब पढ़ लेने से ही कोई वैज्ञानिक नहीं हो

पुरखों की थाती

पिबन्ति नद्यः स्वयमेव नाम्भः
स्वयं न खादन्ति फलानि वृक्षाः।
नादन्ति सस्यं खलु वारिवाहाः
परोपकाराय सतां विभूतयः ।।

– जैसे नदियाँ अपने जल को स्वयं नहीं पीतीं, वृक्षगण अपने फलों को स्वयं नहीं खाते, पानी बरसानेवाले बादल अपने पैदा किये हुए अन्य को स्वयं नहीं खाते, वैसे ही महापुरुषों की विभूतियाँ (गुण तथा सम्पत्तियाँ) उनके अपने भोग हेतु नहीं, परोपकार के लिए होती हैं।

परोपकार-निरता ये स्वार्थ-सुख-निःस्पृहाः।
जगद्धिताय जनिता साधवस्त्वीदृशा भुवि ।।

– जो लोग परोपकार में तल्लीन रहते हैं, जिनमें अपने स्वार्थ तथा सुख की इच्छा नहीं होती और जिन्होंने जगत् के कल्याणार्थ जन्म लिया है, इस पृथ्वी पर ऐसे लोग ही साधु कहलाते हैं।

परोपकार-शून्यस्य धिङ्मनुष्यस्य जीवितम्।
यावन्तः पशवस्तेषां चर्माप्युपकरिष्यति ।।

– उस मनुष्य के जीवन को धिक्कार है, जो परोपकार से रहित है, उसकी अपेक्षा तो पशु ही अच्छे हैं, (क्योंकि) उनका चमड़ा तक परोपकार में लगता है।

जाता। जो वैज्ञानिक होना चाहता है, उसे Scientific temper (वैज्ञानिक मनोवृत्ति) का विकास करना चाहिये। जब सूक्ष्म अण्वीक्षण यन्त्रों का आविष्कार नहीं हुआ था, तब हिन्दू धर्म का यह घोषित करना कि जीव चौरासी लाख योनियों में से जाकर तब कहीं मनुष्य योनि में आता है, एक अद्भुत चमत्कार है और वह भारत की प्रतिभा का सूचक है।

पहले विज्ञान इस जीवन-प्रवाह का कोई लक्ष्य नहीं मानता था। पर आज का वैज्ञानिक, जीवन को निरुद्देश्य कहने में संकोच का अनुभव करता है। हम प्रवाहपतित तिनके नहीं हैं कि जिधर हमें प्रवाह बहा ले जाय, हम बहते रहेंगे। आज कोई भी व्यक्ति अपने जीवन को लक्ष्यहीन नहीं मान सकता। पर पैसा कमाना और धन संग्रह करना, परिवार का पालन-पोषण करना, समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करना – यह सब जीवन का लक्ष्य नहीं हो सकता। यह तो पशु-पक्षी भी किया करते हैं। जीवन का लक्ष्य पशुभाव से ऊपर उठना है। पशु अपने मन का नियन्त्रण नहीं कर सकता, वह अपने मन की क्रियाओं को नहीं समझ सकता, वह अपनी गतिविधियों का साक्षी नहीं बन सकता। क्योंकि वह अपनी सहज प्रवृत्तियों के द्वारा परिचालित होता है। पर मनुष्य का मन इतना विकसित है कि वह अपनी क्रियाओं को समझने और पकड़ने में समर्थ होता है, वह मानो स्वयं हटकर अपनी क्रियाओं को देख सकता है। यही उसकी विशेषता है। पर यह विशेषता आज उसमें सम्भावना के रूप में छिपी है। यह सम्भावना जितनी मात्रा में प्रकट होती है, उतनी ही मात्रा में मनुष्य अपने विकास-क्रम का स्वामी होता जाता है, और जिस दिन वह इस सम्भावना को पूरी तरह प्रकट कर लेता है, उस दिन वह पूर्ण बन जाता है, कृष्ण बन जाता है, बुद्ध और ईसा बन जाता है, रामकृष्ण बन जाता है, सत्य का साक्षात्कार कर लेता है। स्वामी विवेकानन्द इस सम्बन्ध में कहते हैं – "Each soul is potentially divine. The goal is to manifest this divine within, by controlling nature, external and internal." – "प्रत्येक आत्मा अव्यक्त ब्रह्म है। बाह्य एवं अन्त: प्रकृति को वशीभूत करके इस अन्त:स्थ ब्रह्मभाव को व्यक्त करना ही जीवन का लक्ष्य है।"

वैज्ञानिक प्रबन्धों के प्रसिद्ध लेखक लिंकन बार्नेट मनुष्य की इस सम्भावना को स्वीकार करते हैं और अपनी विख्यात् पुस्तक 'The universe and Dr. Einstein' में लिखते हैं कि मनुष्य अपनी इस सम्भावना से अपरिचित होने के कारण ही अशान्ति और दुख का शिकार है। उनके अनुसार मनुष्य की Noblest and most mysterious faculty (सबसे उदात्त और रहस्यमय क्षमता) है – The ability to transcend himself and perceive himself in the act of perception (अपने को लाँघकर, देखने की क्रिया में अपने आप को देखने की सामर्थ्य)। मनुष्य की इसी क्षमता को हम धर्म की भाषा में 'साक्षीभाव' के नाम से पुकारते हैं। यही मनुष्य में निहित पूर्णता का, ब्रह्मभाव का प्रकट होना है। जब तक यह पूर्णता पूरी तरह से प्रकट नहीं हो जाती, तब तक मनुष्य बारम्बार जन्मग्रहण करता है और एक दिन जब वह अपने भीतर के पशुत्व का पूर्णत: दमन कर मन का स्वामी बन जाता है, तो महापुरुषों के समान पूर्ण बन जाता है। बस, यहीं विकास-क्रम की पूर्णता साधित होती है और जीवन-प्रवाह जो 'अमीबा' से – जीवाणु-कोष से निकलकर लक्ष-लक्ष योनियों में से होता हुआ बह रहा था, वृत्त को पूरा कर लेता है और अपने लक्ष्य – पूर्णता के सागर – में मिलकर विलीन हो जाता है। इसी को 'मुक्ति' या 'मोक्ष' की अवस्था कहते हैं।

हिन्दू दर्शन, विकासवादियों के समान, यह स्वीकार करता है कि 'अमीबा' से विकास का क्रम प्रारम्भ होता है। पर विकासवादी, जैसा कि हमने ऊपर में देखा, यह नहीं समझा पाते कि विकास-क्रम की पूर्णता किसमें है। वे यह भी नहीं बता पाते कि पूर्णता-प्राप्त या विलक्षण प्रतिभासम्पन्न मानव विकास-क्रम में से कैसे पैदा होता है। वे 'चेतना' की उत्पत्ति का भी कोई तार्किक कारण नहीं दे पाते। हिन्दू दर्शन इन सब प्रश्नों का उत्तर देते हुये कहता है कि यह जो मनुष्य की पूर्णता है अथवा यह जो 'चेतना' विकास के क्रम में अचानक कहीं पर प्रकट हो जाती है, वह सब-की-सब उस 'अमीबा' में क्रम-संकुचित है। मनुष्य के माध्यम से प्रकट होनेवाला यह ब्रह्मत्व, यह दिव्यत्व उसी 'अमीबा' के भीतर विद्यमान है। विकास-क्रम का अर्थ है 'अमीबा' के भीतर निहित पूर्णता का अपने आप को प्रकट करने का प्रयास। इसी प्रयास में जीवन-प्रवाह एक योनि से दूसरी योनि में संचरित होता है। जब वहाँ भी पूर्णता पूरी तरह प्रकट नहीं हो पाती, तो उससे भी उच्चतर योनि में वह प्रयाण करता है। इस प्रकार लाखों योनियों में से होता हुआ अन्त में यह जीवन-प्रवाह मनुष्य-योनि में प्रवेश करता है। वहाँ भी जब यह पूर्णता पूरी तरह अपने को अभिव्यक्त नहीं कर पाती, तो उस मनुष्य जीवन के नष्ट होने पर यह जीवन-प्रवाह दूसरा मनुष्य-जीवन धारण करता है। इस प्रकार यह पूर्णता अनेक मनुष्य-जन्मों के माध्यम से अपने को अधिकाधिक अभिव्यक्त करती रहती है और एक दिन यह जीवन-प्रवाह ऐसी मनुष्य-योनि प्राप्त करता है, जहाँ अभिव्यक्ति के सारे बाधक तत्त्व नष्ट हो जाते हैं और जो पूर्णता उस 'अमीबा' के भीतर कैद थी, वह पूरी तरह इस मनुष्य-जन्म में अभिव्यक्त हो जाती है। लाखों-करोड़ों वर्षों से बहता चला आ रहा जीवन-प्रवाह अपने गन्तव्य को प्राप्त कर सार्थक हो जाता है। यही मुक्ति या मोक्ष की अवस्था है।

❖ (क्रमशः) ❖

गीता में साधना की रूपरेखा (३/४)

स्वामी शिवतत्त्वानन्द

(मराठी ग्रन्थ 'भगवद्गीतेच्या अंतरंगात' के श्रीमती ज्योत्सना किरवई द्वारा कृत हिन्दी अनुवाद की अन्तिम किस्त। – सं.)

– ९ –

(अन्तिम सिद्धि का क्षण)

प्रभु बता रहे है –

भक्त्या माम् अभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।।

– "उस भक्ति के द्वारा वह साधक मुझे भलीभाँति, प्रगाढ़ता-पूर्वक जान लेता है – मैं कैसा (अर्थात् क्या क्या) हूँ और कौन हूँ यह यथार्थ रूप से जान लेता है, ठीक ठीक जान लेता है और इस रीति से मुझे भलीभाँति जान लेने के बाद वह मुझमें प्रवेश करता है।"

(प्रभु अब गीतामुख से अपनी सुबोध वाणी में परम भाग्यवान साधक के साधक-जीवन के, उसकी साधना का बिल्कुल अन्तिम – स्वर्णिम क्षण – जीव के अस्तित्व, उसका मानव-जन्म चिर-कृतार्थ होने का, कृतकृत्य होने के महान् शुभ क्षण का वर्णन करते है। पूर्णतः प्रभु की शरण में जाकर शंकर, ज्ञानेश्वर आदि की मन-ही-मन वन्दना तथा गुरुचरणों का स्मरण कर आप और हम गुरुकृपा के बल पर उस (क्षण) का यथासम्भव आकलन करने का प्रयत्न करें।)

* * *

ब्रह्मभूत, प्रसन्नात्मा, आकांक्षा-हर्ष-शोक-रहित, सर्वभूतों में समदृष्टि-युक्त साधक को प्राप्त 'पराभक्ति' के अन्तःस्वरूप पर चर्चा करते हुए हमने देखा कि अब तक चित्त के परम शुद्ध हो जाने के कारण 'मैं तथा जगत् सत्य भी नहीं हैं, मिथ्या भी नहीं हैं; उनका अत्सित्व ही नहीं है, हैं तो केवल एकमेवाद्वितीय अखण्ड सच्चिदानन्द प्रभु – वे सर्वमय प्रभु ही मेरा तथा जगत् का स्वरूप हैं' – यह मूलभूत परम सत्य स्वयं की सत्ता (being) में अभिव्यक्त होने के कारण उस साधक को 'मैं उन सर्व-स्वरूप प्रभु से अभिन्न हूँ' – यह परम आनन्दमय ऐक्यानुभूति अत्यन्त प्रत्यक्ष रूप में बोध में आती है। अतः उसकी उत्कटता भी चरम कोटि की है।

और इस कारण, इस 'अस्तित्वहीन मैं' को उन 'अस्तिरूप प्रभु' के साथ – अर्थात् स्व-स्वरूप से पूर्ण रूप से एक हो जाने की अति प्रबल इच्छा होने लगती है। और ज्ञान की भाषा में कहें तो स्व-स्वरूप के साथ पूर्णतया एक हो जाने (self-centripetance) की या भक्ति की भाषा में कहे तो उन सर्वस्वरूप प्रभु में पूर्णतः आत्म-समर्पण (self-surrender) करने की असीम इच्छा या लालसा ही उस पराभक्ति का आन्तरिक 'स्वरूप' होता है – यही उस पराभक्ति का 'स्वभाव' होता है – यही मूलतः उस पराभक्ति का लक्षण होता है।

और इसीलिये स्व-स्वरूपभूत आत्माराम से पूर्णतः एक होने के लिए उसका अन्तःकरण परम व्याकुल हो रहा होता है – उन सर्वस्वरूप प्रियतम प्रभु में पूर्णतः आत्म-समर्पण करने के लिये उसके पंचप्राण अत्यन्त बैचेन हो रहे होते हैं। दूसरा कुछ भी उसे रुचता नहीं – अभी का यह परम उत्कट ऐक्यबोध, इतना उत्कट आनन्द, इतनी उत्कट अपरोक्षता भी उसे बड़ी अधूरी अधूरी लगती है – जीवन-धारण तक उसे विडम्बना-सा प्रतीत होता है।

और इस आकर्षण के कारण ही, इस व्याकुलता के कारण ही, इस बैचेनी के कारण ही, इस अभावबोध के कारण ही, स्पष्ट रूप से बोध होने लगता है। स्पष्ट रूप से बोध होता है कि 'मैं प्रभु से एक हूँ' – इस परमोत्कट प्रत्यक्ष आनन्दमय ऐक्यबोध में 'मैं' ही उस अभावबोध का एकमेव कारण है। अब उसे और किसी भी स्थूल या सूक्ष्म बाधा-विक्षेप नहीं रह जाता, अब बाधा-विक्षेप केवल एक ही – 'मैं' का आश्रय लेकर अति उत्कट रूप में अनुभूत होनेवाले अपरोक्ष आनन्दमय ऐक्य का – इस 'अद्वैत-वृत्ति' का है।

और इसीलिये इस 'मैं' की बाधा, इस 'मैं' का झंझट दूर करने का सतत प्रयत्न चलता रहता है – अक्षरशः प्राणों की बाजी लगाकर – जीवन की स्पृहा को त्यागकर तथा मृत्यु के भय को लाँघकर, सतत उन प्रभु में पूर्णतः डूबने के लिए प्रचण्ड छटपटाहट होती रहती है।

परन्तु कैसे होती रहती है। जैसे ग्रामोफोन के तवे के बीच में दरार पड़ी हो, तो सूई एक ही खाँचे में फँसकर गाने की एक ही पंक्ति बारम्बार दुहराती रहती है, यह मामला भी ठीक उसी तरह का है। कितना भी जी-तोड़ परिश्रम किया जाय, पर परिणाम केवल 'वही' ऐक्यबोध उसी 'अद्वैतवृत्ति' का बारम्बार 'दुहराना', बस यही ! सिर्फ वही एक ही पंक्ति – 'मैं प्रभु से एक हूँ' ! बस, 'केवल' इतना ही, यहीं तक।

हाँ, यहीं तक ! कुछ भी करो, पर आगे बढ़ना ही नहीं होता, प्रगति ही नहीं होती।

और होगी भी कैसे? क्योंकि 'मानवी' चित्त की, विषयी-विषय बोध (subject-object consciousness) की जितनी प्रगति होनी सम्भव है, उतनी उसकी अब तक हो चुकी होती है। मानवी चित्त यानी विषयी-विषय बोध जितना शुद्ध – अर्थात् जितना निर्मल, जितना निस्तरंग और जितना पारदर्शी

तथा शान्त होना 'सम्भव' है, उतना उस साधक का अब तक हो चुका होता है। इसीलिए 'मैं और जगत् यथार्थ भी नहीं है, मिथ्या भी नहीं है, उसका अस्तित्व ही नहीं है, हैं तो केवल सर्वातीत सर्वगत एकमेवाद्वितीय सच्चिदानन्द प्रभु ही; वे ही मेरे तथा जगत् के नाम-रूपों में विलसित हो रहे हैं' – यह मूलभूत सत्य उस परम शुद्ध चित्त में अति स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हो रहा है। अर्थात् 'मैं और वे सर्वमय प्रभु एक ही हैं' **(अहं ब्रह्मास्मि)** – यह ऐक्यबोध एवं उससे उत्पन्न आनन्द मानवीय मन में जितनी प्रत्यक्ष उत्कटता के साथ अनुभवित होना 'सम्भव' है, उतना वह उसे अभी अनुभवित हो रहा है, फिर 'अब' और अधिक प्रगति क्या और कैसे होगी?

और फिर भी, जितनी है 'उससे' उसकी तृप्ति नहीं होती, यह सब उसे अल्प-अपूर्ण लगता है। यह उसे ऐसा क्यों लगता है, यह हम देख ही आये हैं।

यह कितनी विचित्र अवस्था है ! 'मैं और प्रभु एक ही हैं' – यह आनन्दमय उत्कट अपरोक्ष परम ऐक्यबोध भी, यह ऐक्य 'पूर्ण' नहीं है – यह परम बोध भी, और यह 'मैं' उस पूर्ण ऐक्य के मार्ग में बाधक है – यह खेद भी चरम है और पूर्ण रूप से एक होने की व्याकुलता भी परम है और इस कारण उस पूर्ण ऐक्य के लिये जी-तोड़ परिश्रम भी पराकाष्ठा की है। परन्तु प्रगति नहीं हो रही है !

अहा ! उसका यह अति दुख कैसे दूर हो? प्रगति (आगे बढ़ना) होता नहीं, परागति (लौटना) सम्भव नहीं, अधोगति (नीचे जाने) का तो प्रश्न ही नहीं। अब! अब कौन-सी गति?

अब केवल एक ही गति बाकी है। वह है ऊर्ध्वगति – (ऊपर – उस पार या अतीत जाना) ! (अभी की ऐक्यानुभूति के इस उर्ध्वगमन या ऊपर जाने का वर्णन गुरुमुख से सुना है, जो इस प्रकार है – "Intution now takes a transcendental turn." – अपरोक्षानुभूति अब विषयी-विषय बोध के परे अर्थात् 'दूसरी ओर' जाने के लिए मुड़ती है।)

सारांश यह कि वह बची हुई एकमेव 'गति' – वह ऊर्ध्व -गमन अब घटित होता है।

* * *

अर्थात् अब 'वह' सुवर्ण क्षण आता है।

* * *

अर्थात् क्या होता है?

ऐसा होता है – चित्त अब परम शुद्ध यानी परम निर्मल तथा निस्तरंग यानी अति पारदर्शी तथा शान्त होता है। और इसीलिये उसमें उस चित्ततल का स्वरूपभूत एकमेवाद्वितीय सच्चिदानन्द प्रभु अपनी पराकाष्ठा के साथ अभिव्यक्त होता है। और इसीलिए 'मैं तथा प्रभु एक हैं' – यह उत्कट आनन्दमय ऐक्य परम अपरोक्षता के साथ, परम प्रत्यक्षता के साथ अनुभूत होती है। पर साथ ही इस बोध की पराकाष्ठा भी होती है कि यह ऐक्य 'सम्पूर्ण' नहीं है। और इसीलिए प्रभु से पूर्णरूपेण एक होने की इच्छा या लालसा भी अपनी पराकाष्ठा में स्फुरित होती रहती है। इसके फलस्वरूप उसके लिए प्रभु से पूर्णतः एक होने के लिए, उनमें पूर्णतः आत्म-समर्पण करने के लिए किया गया परिश्रम भी चरम होता है। और इसके साथ ही 'उस ऐक्य को अनुभव करनेवाले मैं' के कारण वह ऐक्य 'सम्पूर्ण' नहीं हो सकता, इसका भान भी पराकाष्ठा के साथ होता है। इतना परिश्रम करने के बाद भी इस 'मैं' के कारण 'प्रगति' रुकी हुई है, यह भी परम स्पष्टता के साथ दिखाई देता है और फिर भी पराकाष्ठा की व्याकुलता के कारण, आकर्षण के कारण 'पूर्णतः एक' होने की छटपटाहट भी अपनी पराकाष्ठा के साथ होती रहती है।

ऐसी 'असहाय' स्थिति में 'अब' अन्दर से प्रचण्ड आवेग के साथ प्रश्न उठता है – "प्रभु से एक होने की इच्छा करने वाला यह मैं 'वस्तुतः' क्या है? – कौन है?"

और ! – और 'जहाँ से' प्रश्न उठा वहाँ – उस प्रश्नकर्ता पर परम आकस्मिकता के साथ और परम प्रबलता के साथ तीव्र प्रकाश पड़ता है कि – "मैं उन सर्व-स्वरूप 'प्रभु के साथ' 'एक' हूँ" मेरी इस अत्यन्त उत्कट आनन्दमय ऐक्य की अपरोक्ष अनुभूति (पराभक्ति) में विषय (object) जो सर्व-स्वरूप 'प्रभु' हैं, वह भी प्रभु ही हैं और उसका विषयी (subject) जो 'मैं' है, वह भी 'वस्तुतः' प्रभु ही हैं। केवल 'ऐक्य' की इस अनुभूति से, इस अद्वैत-'वृत्ति' से मैं उनका अनुभव कर रहा हूँ, इसीलिए वह एकमेवाद्वितीय, अखण्ड, सत्-चित्-आनन्द प्रभु तथा मैं ऐसा द्विधा भासित हो रहा है। पर तत्त्वतः देखें तो वे पूर्णतः विषयी-विषय-भेदशून्य (मैं-वे-भेदशून्य) सन्मात्र, चिन्मात्र, आनन्दमात्र हैं। सारांश यह है कि मैं तथा जगत् (समस्त उपाधियाँ) सचमुच वे ही हैं और इसे ठीक ठीक देखें, तो वे मेरे तथा जगत् के अतीत (निरुपाधिक) हैं। वे ही सर्वरूप हैं। वे ही सर्वातीत हैं – वे ही सब कुछ हैं; सर्व भी नहीं, वे ही हैं – एकम् एव अ-द्वितीयम्।

ज्ञान का स्फुरण (flash of illumination) या प्रकट होना – यह बात ही ऐसी है कि इसके एक बार होने पर अज्ञान या आभास का टिकना सम्भव नहीं होता। प्रकाश होने पर फिर अँधेरा कैसे टिकेगा? ज्ञानलक्षण या ज्ञानस्वरूप 'पराभक्ति' से उस साधक के 'मैं' पर उपरोक्त प्रकार से एक बार प्रकाश पड़ा कि उसके उस 'मैं'पने का आभास तत्काल तत्क्षण नष्ट हो जाता है – 'मैं'पने का कोई चिह्न तक नहीं रह जाता, उसका 'पूर्णतः' लोप हो जाता है। (आखिर वह आभास ही तो है, तो उसका बचेगा क्या !) और विषयीरूपी 'मैं' ही नहीं है तो फिर विषयरूपी 'प्रभु' भला कहाँ रहेंगे ! ('विषयी' की आकांक्षा के कारण ही तो प्रभु विषय बने थे!) 'मैं' और 'प्रभु'

इसका भान अर्थात् दोनों की एकता का भी भान नहीं – अर्थात् अद्वैत-भान यानी अद्वैत-वृत्ति भी नहीं ! वह वृत्ति तो उस स्वरूप-ज्ञान की ज्योति से उद्भासित हो जाती है, आलोकित हो जाती है – 'दीप्त' हो जाती है। इस प्रकार अद्वैत 'वृत्ति' दीप्त होकर सिर्फ शुद्ध 'अद्वैत' बचता है ।

भक्त्या माम् अभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्वतः – (इस भक्ति से साधक मुझे भलीभाँति प्रगाढ़ता से जानता है – मैं कैसा, अर्थात् क्या क्या हूँ और कौन हूँ, यह वह ठीक-ठीक जान लेता है ।) इस पंक्ति में प्रभु ने यही बताया है ।

* * *

इस प्रकार अद्वैत 'वृत्ति' प्रकाशित होकर केवल 'अद्वैत' ही बचा रहता है, अर्थात् क्या होता है?

'मैं उन सर्वस्वरूप प्रभु से अभिन्न हूँ' – ऐक्य की यह आनन्दमय उत्कट अनुभूति उसे अपरोक्ष रूप में हो रही थी । उस अनुभूति के ऐक्य में, आनन्द में तथा अपरोक्षता में भी 'कमी' थी और इसीलिए उसकी प्रबलता भी उसे अपर्याप्त लग रही थी। अब उस आनन्दमयता की आस्वादक-आस्वाद्य-आस्वादन-जन्य कमी ज्ञानोद्भासित होकर बचा है मात्र आनन्द (Bliss); उस ऐक्यबोध की बोद्धा-बोध्य-बोधजन्य कमी ज्ञानोद्भासित होकर बचा है केवल – 'बोध'; और अपरोक्षता की विषयी-विषय-विषयीविषय-सम्बन्ध कमी ज्ञानोद्भासित होकर शेष बचा है मात्र – 'अस्तित्व'! अर्थात् अब शेष बचा है केवल अस्तित्व, बोध एवं आनन्द ! – सत्-चित्-आनन्द ।

अर्थात् 'अब' साधक 'अलग' नहीं रहा – अब वह सत्-चित्-आनन्द हो गया है ! अर्थात् मात्र 'शुद्ध अद्वैत' बचा है ।

अर्थात् हम बाहरी लोग कहेंगे कि 'अब' वह सत्-चित्-आनन्द हो चुका है । उसके स्वयं के वर्तमान अनुभव से उसे लगता है कि सत्-चित्-आनन्द ही उसका मूल सच्चा स्वरूप है, पर अब उसे ज्ञान हुआ कि (अनिर्वचनीय अज्ञान के कारण) न जाने क्यों वह स्वयं को 'भिन्न' समझ रहा था। अतः यह ज्ञान होते ही (मां तत्त्वतो ज्ञात्वा) तत्काल (ततः तदनन्तरम्) वह स्व-स्वरूपभूत हो गया (मां विशते)। प्रभु के ही शब्दों में – **ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्** – मुझे ठीक ठीक जानकर मुझमें प्रवेश करता है ।

अर्थात् ऐसा नही है कि अब तक उसे पता नहीं था कि 'प्रभु ही अपने स्वरूप हैं'। जानता था, पर 'समझता' नहीं था। इसीलिए गीता अब कहती है – 'तत्त्वतः' (=यथार्थ रूप से) 'अभि-जानाति' (अभि=उचित, प्रगाढ़तापूर्वक जानता है)। अर्थात् अब तक 'तत्त्वतः' नहीं था और इसीलिए 'अभि' नहीं था, केवल 'जानाति' ही था ।

और इस प्रकार 'तत्त्वतः अभिजानाति' होकर यानी सच्चे प्रगाढ़ ज्ञान से उसे स्वयं के स्वरूप की प्राप्ति होती है। अतः इस तरह जानना स्व-स्वरूप प्रभु में प्रवेश करना है। इस तरह 'जानना' तथा 'प्रवेश करना' वस्तुतः एक ही होकर भी ऐसा जो कहा है कि "इस प्रकार जानकर 'तदनन्तर तत्काल' वह प्रभु में प्रवेश करता है" – वह यही बताने के लिए कि ऐसे जानने के पूर्व यानी ऐसे जाने बिना स्व-स्वरूप की यथार्थ प्राप्ति नहीं होती और ऐसे जानने के बाद 'तत्काल' – स्व-स्वरूप लाभ के सिवा अन्य कुछ भी नहीं होता ।

परन्तु यह लाभ यदि स्वयं के स्वरूप की ही प्राप्ति है, तो फिर 'विशते' – "वह स्व-स्वरूपभूत प्रभु में 'प्रवेश करता है' " – ऐसा क्यों कहा? यही बताने के लिए ऐसा कहा गया है कि 'अब' साधक 'अलग' नहीं बचता, उसका अब कुछ भी शेष नहीं रहता, वही मूलतः अब रहता नहीं; वह जो था (नहीं, बल्कि है), अब वही हो जाता है ।

– १० –

अन्तिम सिद्धि का स्वरूप

'मैं उस सर्व-स्वरूप प्रभु से एक हूँ' – इस अद्वैत 'वृत्ति' में अनुभूत होनेवाले ऐक्यबोध में, आनन्दमयता में और अपरोक्षता में 'कमी' थी। उस अद्वैत वृत्ति के ज्ञानोद्भासित हो जाने से पूर्णतः प्रकाशित हो जाने से वह कमी दूर हो गयी। 'अब' उस ऐक्य में (चित्) आनन्द में (आनन्द) तथा अपरोक्षता में (सत्) बिल्कुल भी कमी नहीं है। 'अब' उस कमी की निरपेक्ष पूर्ति होकर रह गयी है – पूर्ण ऐक्य, पूर्ण आनन्द, पूर्ण अपरोक्षता। शुद्ध 'अद्वैत' या शुद्ध 'सोऽहम्' ! केवल सत्, केवल चित्, केवल आनन्द। परिपूर्ण सच्चिदानन्द की अनुभूति। और इसीलिए उस अनुभूति की उत्कटता में अब तक जो अपूर्णता थी, वह भी 'अब' नहीं है ! अब है 'परिपूर्ण' उत्कटता। उस चिद्घन से, उस आनन्दघन से, उस सद्घन से पूर्ण ऐक्य, इसीलिए पूर्ण आनन्द ! और इस ऐक्यानन्द की पूर्णता अपरोक्ष रूप है। और इसीलिए 'अभी' की यह अपरोक्ष ऐक्यानन्दानुभूति पूर्ण उत्कट स्वरूप की ही होगी। अब कहीं भी, किसी में भी, कुछ में भी, किसी के कारण थोड़ी-सी कमी या अपर्याप्तता नहीं रही।

और यह पूर्णता, सद्घनता, चिद्घनता तथा आनन्दघनता उस साधक ने कहीं से 'प्राप्त' नहीं की है, बल्कि केवल उसकी समझ में आ गया है कि यही उसका 'सच्चा स्वरूप' है। वे अखण्ड सत्-चित्-आनन्दघन प्रभु ही उसका वास्तविक स्वरूप होने पर भी, न जाने कैसे उसे अपने स्वरूप का विस्मरण हो गया था। उस विचित्र, गूढ, अनादि विस्मरण अवस्था में (बद्धावस्था में) अनेक जन्म बिताने के बाद सुख-दुखों के बीच से विकसित होकर, स्व-स्वरूप की थोड़ी-सी 'स्मृति' आकर उस सत्-चित्-आनन्दघन स्व-स्वरूप के प्रति अल्प सा आकर्षण लगने लगा था। उस आकर्षण ने उसे

मूर्त सच्चिदानन्द ब्रह्म – श्रीगुरु के चरणों में लाकर तथा गुरूपदिष्ट स्व-स्वरूप ज्ञान पर विश्वास उत्पन्न कर उससे कर्मनिष्ठा की साधना करवायी थी। उस साधना से चित्त शुद्ध होकर, उसका स्व-स्वरूप के प्रति विश्वास अनुभूति में परिणत होने लगा था। उस स्व-स्वरूप के अनुभव से वह स्व-स्वरूप का आकर्षण और भी अधिक दृढ़ हुआ था। उस बढ़ते हुए आकर्षण ने उसे अनुभूति के प्रवेशद्वार पर ही न रोककर उत्तरोत्तर अधिकाधिक अन्दर की ओर ले जाकर अब अन्त में 'पूर्ण' स्व-स्वरूपानुभव तक ला दिया है।

और अब वह 'पूर्ण' तथा स्व-रूप ही बन गया, अत: उस स्वरूप का आकर्षण भी अब स्वभावत: शान्त हो गया है। सारांश, उसे अब समझ में आ चुका है कि स्वयं की ओर से देखने पर बद्ध, मुमुक्षु, साधक तथा सिद्ध – भेद अवश्य दिखते है, पर सच्चाई तो यह है कि स्व-स्वरूप की ओर से देखने पर बद्ध से लेकर सिद्ध तक सभी उस स्व-स्वरूपभूत सत्-चित्-आनन्दघन प्रभु की उत्तरोत्तर अधिकाधिक अभिव्यक्ति है अर्थात् उन सर्व-स्वरूप एकमेवाद्वितीय सच्चिदानन्द प्रभु की केवल लीला मात्र है। वही बद्ध होकर, मुमुक्षु होकर साधक होकर क्रीड़ा कर रहा था और वही अब सिद्ध होकर खेल रहा है। बद्ध-मुमुक्षु-साधक-सिद्ध की लीला कर वह जैसा लीलामय था, 'अब' वैसा ही शेष है। जो है, वही था और वही है। नित्य-विद्यमान सत्-चित्-आनन्द ! अर्थात् वह अब साधक नहीं, बल्कि साधक के रूप में सत-चित्-आनन्द ब्रह्म ही होता है ! उस साधक का अब ऐसा ही अनुभव होता है ! अब केवल स्वरूप का अनुभव, केवल स्वरूप में स्थिति। और स्वरूप का कभी व्यभिचार नहीं होता। उसमें कभी, किसी से भी तिल मात्र भी परिवर्तन नहीं होता। जो बदलता नहीं, वही स्व-रूप है – स्व-रूप का मूल अर्थ यही है। और इसीलिए साधक अब समाधि में बाह्य-भान-शून्य अवस्था में हो, या व्युत्थान में बाह्य-भान की स्थिति में हो – उसे अन्तर्बाह्य सदैव उस सच्चिदानन्द का ही बोध होता रहता है। उसे अ-खण्डित रूप से प्रतीत होता रहता है कि – शान्त जल भी जल है और हिलता-डुलता लहरों-तरंगों का फेनिल जल भी जल ही है। उसे अ-खण्डित रूप से बोध होता रहता है कि जो नित्य है, वही लीला में भी है। अर्थात् – **'वासुदेवः सर्वम् इति' (गीता, ७/१९)** – सब कुछ वासुदेव – सब कुछ वे सच्चिदानन्द प्रभु ही हैं।

समाधि में सत्-चित्-आनन्द ! व्युत्थान में सद्विलास, चिद्विलास, आनन्दविलास !! जाग्रत-स्वप्न-निद्रावस्था में, जीवन -मरण में सदा सच्चिदानन्द की पूर्ण अद्वैतानुभूति। उसमें कमी का कोई प्रश्न नहीं, अपूर्णता को कोई स्थान नहीं।

तो अब प्राप्त करने को क्या बाकी रहा? कुछ भी नहीं ! यह हुई 'सच्ची' ब्रह्मप्राप्ति। हो गया, 'मार्ग' तो समाप्त हो चुका था, अब 'चलना' भी बन्द हुआ ! मार्ग खत्म हुआ, यात्रा भी पूरी हो गयी ! अब स्वर्णिम दिन और अमृतमय क्षण, अब केवल आनन्द, आनन्द, पूर्ण आनन्द, आनन्द ! –

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ।।

– "जिसके प्राप्त होने पर अन्य कोई भी प्राप्ति उससे बड़ी नहीं लगती और जिसका सतत अनुभव होने पर कितना भी बड़ा दुख उसे जरा भी चलित-विचलित नहीं कर सकता।"

यही है कृतार्थता ! यही है कृतकृत्यता !!

– १० –

उपसंहार

'तो ऐसा है – 'गीतोक्त अन्तिम सिद्धि का स्वरूप !'

* * *

यह अन्तिम सिद्धि प्राप्त होने के बाद उस 'सुदुर्लभ महात्मा' के बोध में आता है कि साधक-साधना तथा सिद्धि उन सर्व-स्वरूप अखण्ड सच्चिदानन्द प्रभु की लीला ही है ! – साधक की सत्ता तथा बोध में 'विश्वास' से लेकर 'अपरोक्ष अनुभूति' तक उन स्व-स्वरूपभूत प्रभु के उत्तरोत्तर अधिकाधिक अभिव्यक्ति की एक ही सतत प्रक्रिया है।

ऐसी है संक्षेप में 'गीता में वर्णित साधना की रूपरेखा।'

* * *

इस तरह विविध देशों में, विविध कालों में, विविध आधार पर, विविध प्रकार से साधक-साधना-सिद्धि की लीला करनेवाले उस सर्वातीत सर्वगत एकमेवाद्वितीय प्रभु ने ही कृष्ण का रूप धारण कर हमारे दुखों से द्रवित होकर अपार करुणा से गीता द्वारा स्वयं के स्वरूप, अर्थात् जीवन तथा जगत् के परम सत्य (ब्रह्मविद्या) तथा उसकी प्राप्ति की साधना (योगशास्त्र) हमें बताई है। इस पूरे विवेचन से पता चलता है कि जीवन तथा जगत् में 'सत्य क्या' है अर्थात् हमें कहाँ जाना है; समझ में आता है कि हम इस मार्ग पर कहाँ है और कैसे जाने से हम लक्ष्य तक पहुँच सकते हैं।

* * *

आइए गुरुप्रसाद से इन सबका आकलन कर हम प्रभु की साधना-लीला की भूमि बनें।

और, हे प्रभो, हे लीलामय, हे स्व-रूपभूत, तुम दया करके अपने बारे में हमारी अन्तरात्मा की लालसा को स्वरूपाभिव्यक्ति द्वारा तृप्त करो, पूर्ण करो। और हे दयालु, इस प्रकार साधक-साधन-सिद्धि वस्तुत: तुम्हारी ही लीला है – इस महान् सत्य को हम शरणागतों के बोध में लाकर हमें भी कृतार्थ करो, कृत्कृत्य करो।

❖ (समाप्त) ❖

श्रीरामकृष्ण की दृष्टि में धर्म-समन्वय

शरदचन्द्र श्रोत्रिय

हम ऐसी एकांगी और सीमित बुद्धि को लेकर उस पूर्णांग और असीम को समझना चाहते हैं। इसी कारण समाज में प्रचलित प्रमुख धर्मों में मतभेद उभरकर सामने आ रहे हैं। हर सम्प्रदाय के उप-सम्प्रदायों में विवादों और धार्मिक असहिष्णुता से मानव अशान्त है।

वर्तमान युग में विभिन्न धर्मों व सम्प्रदायों के बीच जो वैमनस्य चल रहा है, उसे भगवान रामकृष्ण के उपदेशों की सहायता से समाप्त किया जा सकता है। भिन्न भिन्न धर्मों का अनुष्ठान करने और प्रत्येक धर्म के अन्तिम ध्येय को एक ही होने का अनुभव कर लेने के कारण श्रीरामकृष्ण की यह दृढ़ धारणा हो गई थी – "जितने मत हैं, उतने पथ हैं। हृदय में प्रबल श्रद्धा, विश्वास और भक्ति चाहिए, फिर किसी भी मार्ग से जाने पर नि:सन्देह ईश्वर की प्राप्ति होती है।"

वे कहते हैं, "ईश्वर एक ही है, परन्तु उनके नाम हजारों हैं। ईसाई जिन्हें 'गॉड' कहते हैं, हिन्दू उन्हीं को 'राम', 'कृष्ण' और 'ईश्वर' कहकर पुकारते हैं। तालाब में बहुत-से घाट हैं। हिन्दू एक घाट में पानी पीते हैं, कहते हैं 'जल'। ईसाई दूसरे घाट में पीते हैं, कहते हैं 'वाटर'। मुसलमान तीसरे घाट में पानी पीते हैं, कहते हैं 'पानी'।"

श्रीरामकृष्ण ने इस्लाम तथा ईसाई धर्मों के अनुसार भी साधना की। वे कहा करते थे, "वही पुरुष डुबकी लगाकर इधर निकला तो कृष्ण हो गया, उधर बाहर निकला तो ईसा हो गया।" उनके मतानुसार बुद्धदेव ईश्वर के अवतार थे। उनके प्रवर्तित मत में और वैदिक ज्ञानमार्ग में कोई भेद नहीं है। जैन धर्म और सिख धर्म पर भी उनकी भक्ति थी। सिखों के दस गुरुओं के सम्बन्ध में वे कहते थे कि ये सब जनक ऋषि के अवतार हैं।

उनके अनुसार द्वैत, विशिष्टाद्वैत और अद्वैत – तीन भिन्न मत न होकर मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति की तीन भिन्न भिन्न सीढ़ियाँ हैं और हर एक को इन तीनों सीढ़ियों पर से जाना पड़ता है। परन्तु, "विषयासक्त साधारण मनुष्य के लिए द्वैतभाव ही उचित है। मन-बुद्धि की सहायता से विशिष्टाद्वैत तक कहा व समझा जा सकता है, उसके बाद जैसे नित्य नित्य है, वैसे ही लीला भी नित्य है, चिन्मय नाम, चिन्मय धाम, चिन्मय श्याम।" अद्वैत भाव को अन्तिम बात जानना, वह वाक्य-मन से परे उपलब्धि का विषय है।"

उनकी दृष्टि में सभी धर्म सत्य थे। वे कहते थे, "धर्मजगत् में सभी धर्मों का स्थान है।" प्रत्यक्षानुभूति ही यथार्थ धर्म है। धर्म किसी को कुछ मान लेने को नहीं कहता है, वह स्वयं परख लेने को कहता है। वे कहते थे, "मैं सत्य का दर्शन करता हूँ, इच्छा करने पर तुम भी उसका दर्शन कर सकते हो।" एक ही तरह की साधना-प्रणाली सबके लिए उपयोगी नहीं हो सकती। क्रिया-अनुष्ठान आदि निम्नतर साधन हैं, उससे अच्छा है ईश्वर को अपनी आत्मा से बाहर देखना और सर्वश्रेष्ठ साधन है अपनी आत्मा के भीतर ब्रह्म का साक्षात्कार करना। छत पर चढ़ना इष्ट है, चाहे जिस तरह चढ़ सकें, बाँस लगाकर या रस्सी पकड़कर।"

भगवान श्रीरामकृष्ण के सुयोग्य शिष्य स्वामी विवेकानन्द के अनुसार – सम्पूर्ण धर्मजगत् भिन्न भिन्न रुचिवाले स्त्री-पुरुषों की विभिन्न अवस्थाओं एवं परिस्थितियों में से होते हुए एक ही लक्ष्य की ओर यात्रा है, प्रगति है। प्रत्येक धर्म जड़-भावापन्न मानव से एक ईश्वर का उद्भव कर रहा है और वही ईश्वर उन सबका प्रेरक है। विरोध केवल सतही है। वही एक ज्योति भिन्न भिन्न रंग के कांच में से भिन्न भिन्न रूप से प्रकट होती है। गीता (७/७) के अनुसार – **मयि सर्वमिदंप्रोतं सूत्रे मणिगणा इव** – "मोतियों की माला में धागे की भाँति प्रत्येक धर्म में मैं ही पिरोया हुआ हूँ।"

एक एक मणि को एक विशेष धर्म, मत या सम्प्रदाय कहा जा सकता है। प्रभु ही सूत्र रूप से उन सबमें विद्यमान हैं। एक ही सत्य का प्रकाश लाखों प्रकार से होता है और प्रत्येक भाव ही अपनी निर्दिष्ट सीमा के अन्दर प्रकृत सत्य है। किसी भी विषय को सैकड़ों प्रकार की विभिन्न दृष्टि से देखने पर वह एक ही वस्तु बनी रहती है। कोई मनुष्य भूतल से सूर्य को देखे तो पहले एक गोलाकार वस्तु दिखाई पड़ेगी। यदि सूर्य तक की यात्रा करते समय सूर्य के चित्र लिए जाएँ तो ऐसा लगेगा कि वे सब मानो सूर्य के चित्र हैं।

विभिन्न धर्म अनन्त ज्योतिर्मय परमेश्वर की ओर मानव प्रयाण की भिन्न भिन्न अवस्थाएँ मात्र हैं। प्रत्येक सम्प्रदाय, प्रत्येक धर्म, प्रत्येक व्यक्ति ईश्वर की ओर बढ़ रहा है। मान लो लोग जल-पात्र लेकर जलाशय से जल भरने गये। कोई कटोरी, कोई घड़ा, कोई बाल्टी लाया। प्रत्येक पात्र के जल ने स्वभावत: अपने अपने पात्र का आकार धारण किया है, परन्तु प्रत्येक पात्र में वही एक जल है, जो सबके पास है। पात्रों में जो जल भरा है, ईश्वर उसी जल के समान हैं।

यदि यह सत्य है कि ईश्वर सब धर्मों के केन्द्र-स्वरूप हैं और हममें से प्रत्येक एक व्यासार्थ से उनकी ओर अग्रसर हो

रहा है तो हम सब निश्चय ही उस केन्द्र में पहुँचेंगे और सब व्यापारों के मिलन स्थान में हमारे सब वैषम्य दूर हो जायेंगे।

सारे प्रसिद्ध धर्मों में तीन भाग हैं। पहला है – दार्शनिक भाग। इसमें उस मूल तत्त्व, उद्देश्य और उसकी प्राप्ति के साधन निहित होते हैं। दूसरा है – पौराणिक भाग, जो स्थूल उदाहरणों के द्वारा दार्शनिक भाग को स्पष्ट करता है। इसमें मनुष्यों या अतिमानवों के थोड़े-बहुत काल्पनिक जीवन के दृष्टान्तों द्वारा सूक्ष्म दार्शनिक तत्त्व समझाए जाते हैं। तीसरा है – आनुष्ठानिक भाग। यह धर्म का स्थूल भाग है। इसमें पूजा-पद्धति, आचार, अनुष्ठान आदि का विवरण होता है। कोई धर्म दार्शनिक भाग पर जोर देता है, कोई अन्य दूसरे भागों पर। परन्तु सब धर्मों में एक बात समान है कि ईश्वर सभी धर्मों में विद्यमान हैं।

समन्वयाचार्य भगवान श्रीरामकृष्ण और भी कहते हैं – "ईश्वर साकार भी हैं और निराकार भी हैं।"

वे 'वचनामृत' ग्रन्थ के रचयिता महेन्द्रनाथ गुप्त 'म' से पूछते हैं – "तुम्हारा विश्वास साकार पर है या निराकार पर?" उन दिनों बंगाल में ब्रह्मसमाज का बड़ा प्रभाव था, जो मूर्तिपूजा को अज्ञानता मानते थे। इस परिप्रेक्ष्य से देखने पर ठाकुर का इस प्रकार से प्रश्न करने का कारण मिल जाएगा। महेन्द्रनाथ सोचने लगे – क्या साकार और निराकार दोनों ही सत्य हो सकते हैं? उनका विश्वास निराकार पर है, यह सुनकर ठाकुर बोले – "ठीक है। किसी एक पर विश्वास करने से ही हुआ है। निराकार पर विश्वास अच्छा ही है, पर ऐसा न सोचना कि केवल यही सत्य है और बाकी सब मिथ्या। यह जान रखो कि निराकार भी सत्य है और साकार भी सत्य है।"

ऋषि याज्ञवल्क्य समझा रहे थे कि ब्रह्म क्या है, एक ऋषि ने कहा कि पहेलियाँ बुझाने से काम नहीं चलेगा। "यह एक गाय है" "यह एक घोड़ा है", ऐसा कहने से जिस प्रकार वस्तु को स्पष्ट समझा जा सकता है, उसी प्रकार समझाना होगा। तब याज्ञवल्क्य बोले – **न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्रोतारं शृणुयाः** – जो दृष्टि का द्रष्टा है, उसे तुम दर्शनेन्द्रिय के द्वारा जानना मत चाहो, जो श्रुति का श्रोता है, उसे श्रवणेन्द्रिय के द्वारा जानना मत चाहो। इसी प्रकार जो मन के पीछे मन्ता है, उसे मन के सहारे जानना मत चाहो।

अचिन्त्याः खलु ये भावाः न तांस्तर्केण योजयेत् – जो वस्तु विचार से आती है, उसे कभी बुद्धि के द्वारा तर्क के द्वारा समझने की चेष्टा न करो।

जिस सिद्धान्त पर तुम पहुँचना चाहते हो, सोचो तो – उसके सम्बन्ध में तुम्हारी जानकारी भला कितनी है। ठाकुर उपमा देते हुए भक्त पद्मलोचन की बात कहते हैं। अनेक पण्डित इस प्रश्न का समाधान करने में जुटे थे कि विष्णु बड़े है या शिव। वे लोग बर्दवान के राजपण्डित पद्मलोचन के पास पहुँचे। पद्मलोचन बोले, "भाई, हमारे तो चौदह पुरखों में से किसी ने न तो शिव को देखा है, न विष्णु को, अतः कैसे बताऊँ कि कौन बड़ा है और कौन छोटा?"

ठाकुर ने कहा कि उस गिरगिट की बात याद करो, जो कभी लाल तो कभी नीला रहता है, कभी पीला तो कभी और कुछ हो जाता है, फिर कभी कभी उसका कोई रंग ही नही रहता। इन सब बातों को समझने पर ही उस बहुरूपी ईश्वर को पकड़ा जा सकता है। अतः जब हम यह कहते हैं कि ईश्वर या तो साकार है या फिर निराकार, पर वे एक ही समय साकार और निराकार नही हो सकते, तब हम अपने सीमित भावों को ही प्रगट करते हैं।

हम यदि दूसरों का भाव न समझ सकते हों, तो हमें अपने को यह समझना होगा कि इसका कारण उनके भाव की क्षुद्रता नहीं, बल्कि हमारी ही अपूर्णता है। हम उन्हें जितने रूपों में देखते हैं, वे सब तो वे है ही, फिर भी जो रूप हमारी समझ से परे हैं, वह भी वे ही हैं। यही ठाकुर की शिक्षा का मूलमंत्र है। ❑❑❑

विवेक-ज्योति

श्रीमती कमल भार्गव

तुम गौरव हो भारत मन के
हे भारत-माता के सपूत।
तुम हो विवेक हर जीवन के
तुमसे सारा जग हुआ पूत।।

जब विश्व घोर तम में डूबा
दे किरण ज्योति उद्धार किया।
सबको सन्देश बहुत भाया
जिसका तुमने सुप्रचार किया।।

ऋषियों की धरती सुविख्यात्
भारत चिरदिन से धर्मप्राण।
श्रीरामकृष्ण ने जन्म लिया
करने जगती का परित्राण।।

तुमसे जो युग सन्देश मिला
वह बनी धरोहर हम सबकी।
तुमको न कभी भूलेंगे हम
चमको बन ज्योति सदा जग की।।

छत्तीसगढ़ में श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावप्रचार के अग्रदूत

भक्त आशुतोष विश्वास

श्रीमती शोभा मुखर्जी

बचपन से ही स्वामी विवेकानन्द का भारत-दर्शन प्रारम्भ हो गया था। वर्तमान छत्तीसगढ़ राज्य के रायपुर शहर में उन्होंने लगभग दो वर्ष (१८७७-१८७९) व्यतीत किये थे।

छत्तीसगढ़ में श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा की सुदृढ़ स्थापना में और इस आदर्श हेतु अपना जीवन समर्पित करनेवाले चिरस्मरणीय व्यक्तियों में श्री आशुतोष विश्वास का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। आज भी बहुत से भक्तों के मुख से उनकी स्मृतियाँ सुनने में आती हैं। जागतिक और परमार्थिक चिन्ता का त्याग करके उन्होंने भक्तिमय त्यागाश्रित जीवन अंगीकार किया था।

आशुतोष बाबू के प्रारम्भिक जीवन की कर्म-व्यस्तता में हम स्वामी विवेकानन्द को नहीं पाते हैं, किन्तु जीवन की एक विशेष परिस्थिति में खोजने पर भी उनके अन्तर्मन में एक विशेष परिवर्तन हुआ था। अचानक उनके कर्मक्षेत्र की सभी व्यग्रता समाप्त होने लगी और अन्त में केवल स्वामीजी की प्रेरणाप्रद वाणी ही रह गई – "आत्मा ही सत्य है; वह अजर अमर और चिर पवित्र है। यदि हृदय में बल हो तो दान करो, लेकिन प्रतिदान की आशा मत रखो।" अन्तरात्मा की इसी पुकार ने उनका रामकृष्ण मठ, नागपुर के तत्कालीन अध्यक्ष स्वामी भास्करेश्वरानन्द जी महाराज से सम्बन्ध स्थापित कराया। और उसी वाणी ने उन्हें रायपुर तथा रायपुरवासी सभी भक्तों के हृदय में सुप्रतिष्ठित कर दिया। उन्होंने रायपुर नगर में श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा का जो बीज रोपित किया था, वही आगे चलकर क्रमश: विशाल रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम के रूप में विख्यात हुआ है।

आशुतोष बाबू का जन्म पश्चिमी बंगाल के राणाघाट के बोसपाड़ा में श्री भुवनेश्वर विश्वास के घर में हुआ था। उनके पिता राणाघाट के राजा के यहाँ प्रधानमंत्री के पद पर कार्यरत थे। राजा के छोटे भाई के षड्यंत्र के कारण राजा के साथ ही भुवनेश्वर विश्वास को भी छिपकर अपनी जान बचानी पड़ी। इस अज्ञातवास की अवधि में ही आशुतोष का जन्म हुआ और जन्म होने के साथ-ही-साथ उनकी माता परलोक सिधार गयीं। बड़ी कठिनाई से वे प्राथमिक शिक्षा की पहली सीढ़ी मैट्रिक-परीक्षा पास करके आजीविका की खोज में कलकत्ता आये। संयोगवश उन्हें एक धनाढ्य व्यापारी के यहाँ गृह-शिक्षक का कार्य करने का अवसर प्राप्त हुआ। उसके बाद वे सिविल इंजीनियरिंग की डिप्लोमा परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। उनके उद्यम और उत्साह से प्रभावित होकर उनके आश्रयदाता ने अपना व्यावसायिक कार्यभार पूर्णत: उन्हीं पर सौप दिया। किन्तु जिस बहन के स्नेह-वात्सल्य में वे पले-बढ़े थे, उसी के.पुत्र के षड्यंत्र से वे अपने आश्रयदाता का विश्वास खोकर केवल पहने हुए वस्त्रों में ही बंगाल त्यागने को बाध्य हुये।

इसके बाद वे रायपुर आये। यहाँ राजकुमार महाविद्यालय के सुपरिंटेंडेंट श्री रेवतीमोहन सेन से उनका परिचय हुआ। श्री सेन ने आशुतोष बाबू के गुणों पर मुग्ध होकर उनके लिए वन-विभाग के पथ-निर्माण-कार्य के लिये ठेका पाने की व्यवस्था कर दी। इस कार्य के लिये आशुतोष बाबू को तत्कालीन मध्यप्रदेश के पूर्वी भाग में अनेकों बार वनमार्ग में ही दिन बिताने पड़ते। एक बार यात्रा करते समय उनकी बैलगाड़ी का एक बाघ से सामना हो गया। बाघ एक बैल पर आक्रमण कर उसे उठा ले गया। गाड़ीवान किसी तरह बाघ के मुख से बच निकला, किन्तु घायल हो गया था और थोड़े ही समय बाद मृत्यु को प्राप्त हुआ। इस प्राणान्तक संकट से आशुतोष बाबू की किसने किस प्रकार रक्षा की थी, उसे वे भले ही न समझ सके, किन्तु हृदय में एक नवालोक प्राप्त करके उन्होंने एक नये जीवन में प्रवेश किया। रायपुर नगर में पहुँचने के बाद उन्होंने वह काम छोड़ दिया और जीवन-बीमा कम्पनी में इन्सपेक्टर का कार्य करते हुए वहीं निवास करने लगे। अपनी कार्यकुशलता के कारण पदोन्नति करते हुए वे क्रमश: शाखा-प्रबन्धक बन गये, तो भी सांसारिक ऐश्वर्य का आकर्षण उन्हें मुग्ध नहीं कर सका।

उनकी आन्तरिक उत्कण्ठा उन्हें श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा की ओर ले गई। अब से आशुतोष बाबू का जीवन केवल श्रीरामकृष्ण के निर्देशानुसार ही परिचालित होने लगा। मैने श्रीमत् स्वामी आत्मानन्द जी से सुना है कि नागपुर-आश्रम के छात्रावास में रहते समय उनके जीवन के लक्ष्य-निर्धारण में दो व्यक्तियों का प्रभाव था – प्रथम पूज्य स्वामी भास्करेश्वरानन्द जी और द्वितीय श्री आशुतोष विश्वास का।

पूर्वी मध्यप्रदेश में रायपुर और बिलासपुर दोनों बड़े ही उन्नत तथा विकसित शहर हैं। आशुतोष बाबू जीवन-बीमा कम्पनी के प्रतिनिधि के रुप में इन दोनों शहरों में बहुत-से लोगों के साथ जुड़े हुये थे। इससे उन्हें घर घर में अपने परिचित युवकों को श्रीरामकृष्ण-भावधारा से परिचय कराने का सुअवसर मिला। उनके भक्ति एवं आदर्श से अनुप्राणित

जीवन से प्रभावित होकर अनेक लोग उनके घर में स्थापित मन्दिर में आने लगे। इस प्रकार उनका निवास श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-चर्चा का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र हो गया। उनके परिचित बहुत-से लोगों के मुँह से सुनने में आया है कि विश्वास के घर के भोजनालय का द्वार शाम तक सभी आमंत्रित-अनामंत्रित अतिथियों के भोजन हेतु खुला रहता था। कभी कभी २०-२५ साधु-भक्तों की पंक्ति भी बैठती।

इस प्रकार उनका रायपुर का घर ही पहला श्रीरामकृष्ण-मन्दिर हो गया था। आशुतोष बाबू के गृह-मन्दिर ने रायपुर शहर के युवकों को एकत्र कर श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा के प्रचार-प्रसार हेतु प्रेरित किया था। इन सेवाभावी व्यक्ति के त्याग तथा कर्मशीलता ने उन युवकों के जीवन-गठन में भी सहायता की थी। बाद में उनमें से कई रामकृष्ण मठ तथा मिशन से सम्बद्ध हुए और संन्यासी भी बने।

आशुतोष बाबू हर प्रकार की सेवा का दायित्व ग्रहण करने को प्रस्तुत रहते थे। प्राकृतिक महामारी का प्रकोप, आदिवासियों के बीच सेवा-कार्य या संकटकालीन स्थिति में जहाँ कहीं भी आवश्यकता होती, वे शीघ्र पहुँच जाते। आशुतोष बाबू अपनी आर्थिक-क्षमता से लोक-संग्रह कर दीन-दुखियों की सेवा में कूद पड़ते और उनके मन-प्राण में यह दृढ़ विश्वास रहता कि भगवान स्वयं ही बाकी आवश्यक वस्तुओं की व्यवस्था कर देंगे। पूजा-सेवा के लिए धन की आवश्यकता पड़ने पर, वे स्वयं चन्दे के लिये दानदाता के द्वार पर उपस्थित होते। उन्हें देखकर ऐसा लगता कि मानो एकमात्र उन्हीं पर दुखियों के दु:ख-निवारण का दायित्व है। ऐसी भी स्थिति आई कि आर्थिक कठिनाई के कारण उन्हें परेशानी हुई, लेकिन इस दुरावस्था में भी कभी किसी ने उन्हें हताश या अप्रसन्न नहीं देखा। बेलूड़ मठ के वर्तमान अध्यक्ष परमपूज्य श्रीमत् स्वामी रंगनाथानन्द जी महाराज ने उनके सेवा-कार्य का उल्लेख करते हुए स्नेहपूर्वक एक पत्र में लिखा था – "ईश्वर स्वयं ही अपने भक्त का भार अपने कन्धों पर वहन करते हैं। आपने उन्हीं ईश्वर का भार अपने कन्धों पर उठा लिया है।"

उन दिनों रायपुर के प्रशासनिक अधिकारियों में भक्तश्रेष्ठ निवारणनाथ टण्डन भी एक थे। उनकी स्मृतिकथा में आशुतोष बाबू का बारम्बार उल्लेख मिलता है। उसमें एक अलौकिक घटना भी वर्णित है, जिससे प्रमाणित होता है कि भक्त की शक्ति ही ईश्वर की शक्ति है।

एक बार अत्यधिक परिश्रम, अल्पाहार और अनाहार के कारण आशुतोष बाबू ने कठिन क्षयरोग से ग्रस्त होकर बिस्तर पकड़ लिया। जिन लोगों ने उस दशा में भी उन्हें देखा है, उनका कहना है कि उस स्थिति में भी उनके चेहरे या आचरण पर लेश मात्र भी निराशा का नहीं, अपितु केवल इष्ट के प्रति पूर्ण समर्पण का भाव ही झलकता था।

अपनी एक रात की अनुभूति की बात उन्होंने अपने मित्रों को बतायी थी। उस समय उन्हें स्वप्न में अपने आराध्य स्वामी विवेकानन्द के प्रोज्वल, उद्भासित, तेजोमय रूप का दर्शन हुआ था। उस समय उनके हाथ में काँच के एक गिलास में गाढ़े रंग का कोई तरल पदार्थ था। आशु बाबू का ध्यान इस तरल पदार्थ की ओर आकर्षित करते हुए उनके आराध्य (स्वामी विवेकानन्द) ने कहा – "जा, तू नीरोग हो जायेगा।" टण्डन जी ने अन्य मित्रों से सुना था कि स्वप्न में यह निर्देश प्राप्त करने के बाद से ही आशुतोष बाबू का रोग अलौकिक ढंग से ठीक होने लगा। उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम पर्व में रायपुर में रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम को पूर्णत: फलित होते देख लिया था। आधुनिक पीढ़ी को यह घटना भले ही विश्वसनीय प्रतीत न हो, लेकिन ऐसे दृष्टान्त कम-से-कम भारत में विरल नहीं हैं।

आशुतोष विश्वास अपने दो मातृहीन पुत्रों को छोड़ इस नश्वर भौतिक शरीर का त्यागकर अपने इष्ट के चरणों में विलीन हो गये। उनके कर्मयज्ञ की पूर्णाहुति के बाद रायपुर में रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम उनकी स्मृति को वहन करते हुए आज भी दीनार्तों की सेवा में तत्पर है।

(बँगला मासिक 'उद्बोधन' के अक्टूबर २००३ अंक से साभार)

रामकृष्ण प्रभु

शशी जैन, नई दिल्ली

रामकृष्ण, प्रभु दे दो मुझको
आज एक वरदान,
आठों पहर लगे प्रतिपल ही
तव चरणों में ध्यान ।।

ऐसी दृष्टि मिले नेत्रों को
देख तुम्हें मैं पाऊँ,
भले-बुरे का भेद रहे ना
सब हों एक समान ।।

कर्म करूँ हाथों से ऐसे
भला सभी का होवे,
दीन-दुखी के दुख भी बाँटूँ
और करूँ कुछ दान ।।

बुद्धि करो यूँ शुद्ध हमारी
सब उज्जवल हो जाए,
कृपा करो तुम तो बन जाऊँ
मैं सच्चा इंसान ।।

कदम पड़े उस पथ पर जिससे
सत् का दर्शन पाऊँ,
जनम-मरण का चक्र छुड़ाकर
पहुँचा दो निज धाम ।।

सौजन्य की कसौटी

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

मैं एक दिन कार द्वारा भोपाल से इन्दौर जा रहा था। मेरे साथ मेरे एक मित्र थे तथा उनका आठ वर्षीय पुत्र। एक स्थान पर रास्ते के किनारे एक फलक लगा हुआ था, जिसमें लिखा था - "सौजन्य से सभी खुश रहते हैं।" बालक ने वह पढ़ा और पूछा - "स्वामीजी यह सौजन्य क्या है?" मैंने कहा - "बेटे, अच्छा व्यवहार सौजन्य कहलाता है।"

सौजन्य का अर्थ होता है 'सुजनता' - भद्रता। सबके साथ मेरा व्यवहार भद्रता का होना चाहिए। यदि कोई घर पर मेरे पिता या किसी बुजुर्ग से मिलने आया हो, तो उससे व्यवहार करने के दो प्रकार हैं। एक तो यह कि पूछते ही मैं कह दूँ कि नहीं, वे घर पर नहीं है और दरवाजा बन्द कर लूँ। और दूसरा यह है कि यदि आगन्तुक उम्र में मुझसे बड़े दीख पड़ते हैं तो उन्हें नमस्कार करूँ और उनसे कहूँ कि आइए, तशरीफ लाइए। फिर उन्हें बैठाकर मैं कहूँ कि वे तो नहीं हैं, यदि कुछ काम बताने लायक हो तो बता दीजिए। यह दूसरा तरीका सौजन्य कहलाता है।

मान लें कि कोई मेरे कार्यालय में आया और किसी काम के बारे में पूछने लगा। एक तरीका यह है कि मैं रूखेपन से उत्तर दूँ कि आगे जाकर पूछ लीजिए, यहाँ का काम यह नहीं है। दूसरा तरीका यह भी हो सकता है कि मैं नम्रतापूर्वक काउण्टर का नम्बर बता कर कहूँ - आप उस काउण्टर पर चले जाइए। यह दूसरा तरीका सौजन्य है।

मैं रास्ते से जा रहा हूँ। किसी ने कहीं का रास्ता पूछा। एक तरीका यह है कि मैं एक ओर हाथ दिखाकर कह दूँ - सामने जाकर पूछ लो। दूसरा तरीका यह है कि मैं उसके साथ कुछ दूरी तक जाकर सही मोड़ दिखा दूँ। यह दूसरा तरीका सौजन्य है।

मैं बस या ट्रेन में चढ़ना चाहता हूँ। बड़ी भीड़ है, धक्कामुक्की हो रही है। एक वृद्ध या वृद्धा भी उस भीड़ में चढ़ने की कोशिश में हैं। मैं पहले उन्हें चढ़ने के लिए सहारा देता हूँ। यह सौजन्य है।

एक बार मैं बस से जा रहा था। बड़ी भीड़ थी। लोग ठसाठस खड़े थे। एक बूढ़ी माई भी लाठी का सहारा लेकर झुकी खड़ी थी। यह देखकर एक व्यक्ति उठकर खड़ा हो गया और अपनी सीट उस बूढ़ी माई का देता हुआ बोला, "आओ मैया, यहाँ बैठ जाओ।" यह सौजन्य है।

हम लोग अमरनाथ जी के दर्शन कर लौट रहे थे। हमने बालटाल वाला मार्ग लिया था। अमरनाथ जी की गुफा से उतरने के बाद लगभग ३ किलोमीटर हिमनदी पर चलने के पश्चात् एक रास्ता बायीं ओर पंचतरणी के लिए मुड़ता है। और दाहिनी ओर का रास्ता बालटाल जाता है। वहाँ से लगभग १००० फुट की सीधी उतार है। हम लोग नीचे पहुँचे। देखा एक प्रौढ़ा रो रही थी। पता चला उसे पचतरणी जाना था और भूल से वह इस रास्ते से उतर आयी है। उसके साथी बिछुड़ गये थे। वह यात्रियों के सामने हाथ-पैर जोड़ रही थी ऊपर चलकर रास्ता दिखा देने के लिए। दिन भी बीतता जा रहा था। कौन यात्री १००० फुट की सीधी चढ़ाई फिर से चढ़कर उसे रास्ता बताता? सभी हाथ से उसे रास्ता दिखाकर चले जा रहे थे। हमारे दल का एक युवा व्यक्ति उस प्रौढ़ा को सहारा देकर ऊपर ले गया और पंचतरणी का रास्ता दिखा आया। भले ही उसे इसमें दो घण्टे का विलम्ब हुआ, और अतिरिक्त परिश्रम भी, पर एक सन्तोष से उसका मुखमण्डल दीप्त था। यह सौजन्य की पराकाष्ठा है।

यदि व्यक्ति इस प्रकार का सौजन्य अपने व्यवहार में प्रदर्शित करे, तो भला कौन उससे खुश न होगा? ऐसा व्यक्ति सबको अपना बना लेता है। सौजन्यशील व्यक्ति दूसरे के कष्ट का अनुभव करता है और उसे यथासम्भव दूर करने की चेष्टा करता है। यदि व्यक्ति किसी की पीड़ा को दूर करने के लिए भौतिक रूप से कुछ नहीं कर सके, तो कम-से-कम वह सात्वना के दो शब्द तो कह ही सकता है। वाणी में विचित्र शक्ति होती है। वह विष का ताप भी पैदा कर सकती है और अमृत की शान्ति भी। मैं एक ऐसे चिकित्सक को जानता हूँ, जिसके दो शब्द रोगी की आधी पीड़ा को हर लेते हैं। और ऐसे भी चिकित्सक से मेरा परिचय है, जिसके शब्द रोगी की पीड़ा को बढ़ा देते हैं।

सौजन्य मानवता का एक ऐसा सुन्दर पुष्प है, जो सुरभि से जीवन को महका देता है।

❑❑❑

स्वामी तुरीयानन्द के उपदेश

(पत्रों से संकलित)

१०/५/१९२०

दीक्षा के बारे में तुम्हारे मन की चिन्ता दूर हो गई है, यह जानकर खुशी हुई। तुमने इस विषय में जो लिखा है वह नि:सन्देह समीचीन तथा युक्तियुक्त है। दीक्षा लेना धर्मजीवन में निश्चय ही सहायक है। परन्तु जिसने अपना जीवन धर्मलाभ के लिए उत्सर्ग करने का संकल्प कर लिया है, अन्तर्यामी प्रभु स्वयं ही उसके लिए सारा सुयोग जुटा देते हैं। दीक्षा के लिए उसे अधिक प्रयास नहीं करना पड़ता है। असल चीज़ है, उन्हें प्राप्त करने के लिए हार्दिक व्याकुलता और मनसा-वाचा-कर्मणा उन्हें प्राप्त करने के प्रयास में लगे रहना। ऐसा होने पर कार्यसिद्धि अपने आप ही हो जाती है। वे ही गुरु के रूप में दीक्षा-शिक्षा आदि सब दे देते हैं। वे ही एकमात्र गुरु है, बाकी सब निमित्त मात्र हैं। मैं दीक्षा को अनावश्यक नहीं कह रहा हूँ। बहुतों का इससे लाभ होता है और अधिकांश लोगों के लिए यह आवश्यक भी है। परन्तु मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि आन्तरिक श्रद्धा ही विशेष उपयोगी है।

तुम गीतापाठ कर रहे हो, यह जानकर आनन्दित हुआ। सर्वशास्त्रमयी गीता। गीता भव-द्वेषिणी – गीता भवबन्धन का ध्वंश करनेवाली है। गीता भगवान का ह्रदय है। गीता अतुलनीय है। नासमझ लोग ही शंकराचार्य को दोष दिया करते हैं। शंकर ज्ञान के अवतार थे; उन्हें दोष देने पर महा-पाप होता है। साधकों में अधिकार-भेद के कारण असंख्य शास्त्रों की रचना हुई है। गीता का अनुशीलन तथा सेवन करने से चित्त शुद्ध हो जाता है। सभी विषयों की ठीक ठीक धारणा करने की क्षमता आ जाती है। परा शान्ति मिलती है।

तुम्हारी बुद्धि शुद्ध हो रही है – जानकर मुझे असीम आनन्द हो रहा है। उन्हीं को आत्मसमर्पण करो, तुम्हारे लिए जो अच्छा होगा, वे ही करा लेंगे। वे ही पथप्रदर्शन करेंगे, अधीर न होना। जहाँ कहीं भी रहो, उन्हें पकड़कर रहने से भय की कोई बात नहीं है। खूँटी पकड़कर घूमने से गिरने की सम्भावना नहीं रहती। जो पूरी तौर से भगवान को आत्मसमर्पण कर देता है, उसका कोई भी कर्तव्य शेष नहीं रह जाता।

चिन्ता की कोई बात नहीं, जैसा चल रहा है, चले। भूत, भविष्य, वर्तमान – सब उन्हें अर्पण कर दो। स्वयं कोई भी योजना न बनाना। देखोगे, वे ही तुम्हारी सारी व्यवस्था कर देंगे। ❑❑❑

रामकृष्ण मिशन आश्रम, छपरा, बिहार-८४१३०१

श्रीरामकृष्ण देव के सोलह संन्यासी शिष्यों में मात्र एक ही बंगभूमि के बाहर के थे और उन्हें अपनी माटी में जन्म देने का श्रेय छपरा को प्राप्त हुआ। स्वामी अद्‌भुतानन्द नाम से विख्यात ये संन्यासी लाटू महाराज के नाम से परिचित हैं। इनके माता-पिता समाज के अत्यंत पिछड़े वर्ग के थे। शैशवावस्था में ही माता-पिता के देहान्त हो जाने के कारण उन्हें बाल-श्रमिक के रूप में अपने चाचा के साथ कलकत्ता जाना पड़ा।

दैवी कृपा से किशोर लाटू अभूतपूर्व आध्यात्मिक साधना के शिखर-पुरुष, सर्वधर्म समन्वय की प्रतिमूर्ति युगावतार भगवान श्रीरामकृष्ण के सम्पर्क में आए। इन दोनों का मिलन भारत ही नहीं, विश्व के आध्यात्मिक जगत् के लिए एक ऐतिहासिक स्वर्णिम संगम था। यह केवल एक परम गुरु से एक निष्ठावान शिष्य का मिलन नहीं, वरन् भारत की एक युग-परिवर्तनकारी घटना थी, मानो भावी भारत की जाति-भेद विहीन सामाजिक संरचना का अद्‌भुत संकेत था।

श्रीरामकृष्ण के निर्देशन में गहन आध्यात्मिक साधना कर इस निपट ग्रामीण, निरक्षर युवक ने समाधि के उच्चतम सोपान पर ब्रह्मोपलब्धि कर आध्यात्मिक जगत में एक अद्वितीय, अद्‌भुत उदाहरण प्रस्तुत किया। लाटू महाराज की इस अनोखी उपलब्धि को देखकर स्वामी विवेकानन्द ने ही उनका नाम स्वामी अद्‌भुतानन्द रखा।

बिहार की मिट्टी धन्य है जिससे भगवान बुद्ध, महावीर जैन, सीता माई आदि के नाम जुड़े हैं। यह भूमि एक बार फिर से लाटू महाराज सरीखे सन्त को जन्म देकर धन्य हो गई है। आज स्वामी अद्‌भुतानन्द के जीवन-चरित पर बंगला, हिन्दी, अंग्रेजी तथा अन्यान्य देशी-विदेशी भाषाओं में अनेक ग्रन्थों एव लेखों का प्रकाशन हो रहा है। आध्यात्मिक जगत् में छपरा जिले को एक विशिष्ट गरिमा प्राप्त हुई है एव वह दिन दूर नहीं जब छपरा एक प्रसिद्ध तीर्थस्थल में परिवर्तित हो जाएगा।

इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए रामकृष्ण मिशन, बेलूड़ मठ ने रामनवमी २००३ को छपरा में एक केन्द्र आरम्भ किया। आशा की जाती है कि रामकृष्ण मिशन आश्रम, छपरा अपने पूर्ण सामर्थ्य से लाटू महाराज की स्मृति अक्षुण्ण रखने के साथ साथ समाज-कल्याण कार्यक्रमों में स्वयं को समर्पित कर देगा।

हमारे कार्यक्रमों को सुचारु रूप से चलाने के लिए हमें धन-बल एवं जन-बल की आवश्यकता है, जिसका अभी नितान्त अभाव है। आपसे विनम्र निवेदन है कि आप हमारे कार्य में सहायता प्रदान करने सहानुभूतिपूर्वक आगे आएँ। इस आश्रम को दिये गये दान आयकर की धारा ८० (जी) के अन्तर्गत आयकर से मुक्त हैं। चेक या ड्राफ्ट 'रामकृष्ण मिशन आश्रम, छपरा, बिहार' के नाम से ऊपर दिए गए पते पर भेजें।

भवदीय

स्वामी समर्पणानन्द

सचिव

RAMAKRISHNA MISSION VIDYAPITH
A Residential Senior Secondary School
RAMAKRISHNA NAGAR, PO · VIDYAPITH
DT. - Deoghar, (Jharkhand) Pin : 814 112
RLY. STATION . BAIDYANATHDHAM, E. RLY.
Phone · (06432) - 222413, 223455 & 236854
Telefax (06432) 222360
E-Mail - rkmvidya@dte.vsnl.net.in

एक निवेदन

मित्रो,

आप लोग यह जानकर निश्चित रूप से अत्यन्त प्रसन्न होंगे कि रामकृष्ण मिशन विद्यापीठ, देवघर ने अप्रैल २००० से वर्ग एकादश एवं द्वादश की पढ़ाई आरम्भ कर दी है। अप्रैल २००० में भर्ती होनेवाले विद्यार्थी यहाँ से उत्तीर्ण हो चुके हैं और इनमें से कई विद्यार्थियों ने विभिन्न प्रतिष्ठित संस्थानों (जैसे - आई.आई.टी., जी.आई.पी.एम. ई.आर. पांडीचेरी आदि) में प्रवेश पा लिया है। आपको यह जानकर भी अति प्रसन्नता होगी कि हमने इनके लिए "छात्रावास परिसर" का निर्माण कर लिया है, जिसमें एक प्रार्थना-भवन, पुस्तकालय, छात्रावास के लिए एक प्रशासनिक भवन, चार छात्रावास, भोजनालय, अतिथि भवन आदि हैं। शैक्षिक प्रभाग का निर्माण अभी होना है। इसके लिए हम लोगों ने इससे ही लगा हुआ "अरुणालय सह ड्रीमलैंड" नामक भूभाग खरीदा है। हम लोगों का विचार है कि इस भूखण्ड पर विद्यालय का उच्चतर माध्यमिक प्रभाग का निर्माण किया जाय, जो सारी आवश्यक सुविधाओं से युक्त हो, जैसे - क्लास रूप, एक प्रयोगशाला और एक उपकरणों से सुसज्जित आडीटोरियम आदि। इस लक्ष्य-प्राप्ति के लिए लगभग ८४ लाख रुपयों की आवश्यकता है। अतिरिक्त १० लाख रुपये उपस्करों आदि के लिए आवश्यक हैं।

इस प्रकार हमारी कुल आवश्यकता ९४ लाख रुपयों की है। निर्माण-कार्य मार्च २००४ के अन्दर ही सम्पन्न करना होगा तथा तदनुसार वर्ग एकादश एवं द्वादश का स्थानान्तर किया जा सकेगा।

अतः रामकृष्ण मिशन विद्यापीठ, देवघर की ओर से मैं इस महान् एवं पवित्र कार्य को सम्पन्न करने के लिए आप उदारंचेताओं से सहयोग की महती प्रार्थना करता हूँ।

चेक या ड्राफ्ट "रामकृष्ण मिशन विद्यापीठ, देवघर" के नाम से ही भेजे जाएँ।

रामकृष्ण मिशन को दिया गया दान धारा ८०-जी के तहत आयकर से मुक्त है।

देवघर
दिनांक. २८. २. २००३

स्वामी सुवीरानन्द
सचिव